सरल गीता

(श्रीमद्भगवद्गीताकी सरल हिन्दी टीका)

लेखक—

पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे

प्रकाशक

हिन्दी पुस्तक भवन,

१८१, हरिसन रोड,

कलकत्ता।

तृतीय संस्करण
२००० प्रति

आषाढ़ सं० १९८०

मूल्य १॥)
सजिल्द १॥=)

प्रकाशक—
गंगाप्रसाद भोतिका
एम० ए० बी० एल० काव्यतीर्थ,
हिन्दी पुस्तक भवन,
१८१, हरिसन रोड,
कलकत्ता।

रामकुमार भुवालका,
"हनुमान प्रेस"
३, माधव सेट लेन,
कलकत्ता।

निवेदन ।

आज हम हिन्दी-पुस्तक-मालाका तीसरा पुष्प पाठकोंको भेट करते हैं। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीताके अनेक भाष्य छप चुके हैं और उनमेंसे कुछ ऐसे भी हैं जो अपूर्व हैं, जैसे लोकमान्यका गीतारहस्य; किन्तु इतना होनेपर भी गीता ही एक ऐसा ग्रंथ है जो सदा नवीन बना रहता है और प्रत्येक भाष्यकर्त्ता इसमेंसे कुछ न कुछ नवीन रत्न खोज निकालता है। यह बात इस भाष्यपर कहांतक चरितार्थ होती है इसे वे ही लोग जान सकेंगे जो इसका ध्यानपूर्वक पठन व मनन करेंगे।

लेखकने इस ग्रंथको लिखकर हिन्दी संसारमें कितनी ख्याति लाभ की है, यह इसीसे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थके दो संस्करण हाथोंहाथ बिक गये और मांग बनी ही रही। अब यह तीसरा संस्करण पाठकोंकी सेवामें उपस्थित है। इस संस्करणमें लेखकने ग्रन्थको प्रायः फिरसे लिखा है और बहुतसे नवीन विषयोंका समावेश किया है। यह भी बतला देना अनुचित न होगा कि इस संस्करणके लेखनका बहुतसा कार्य ग्रन्थकर्त्ताने अपनी श्रीकृष्णजन्मस्थान-यात्राके सुअवसरपर किया था। पुस्तक क्या है एक अनुपम रत्न है। आशा है पाठकोंको इसके पढ़नेसे अवश्य आध्यात्मिक विषयोंकी ओर रुचि होगी।

यहां यह भी लिख देना उचित प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थका मुद्रणकार्य उस समय आरम्भ किया गया था जब कि हमारे

अपने प्रेसकी स्थापना भी नहीं हुई थी। अतः इसका तीन-चौथाईसे अधिक अंश वणिक् प्रेसमें छपवाना पड़ा है।

मालाका चौथा पुष्प 'मधुर मिलन' भी छपकर तैयार है।

विनीत

प्रकाशक

प्रस्तावना ।

(तृतीय संस्करण)

सरलगीताका यह तीसरा संस्करण प्रकाशित करनेमें प्रकाशक और लेखकके साथ साथ इसके पाठकोंका भी हाथ है। सरलगीताका प्रथम और द्वितीय संस्करण हो चुकनेके पश्चात् लेखक तो सरल गीताको भूल ही गया था। पर कभी कभी प्रकाशक उसकी याद दिला देते थे। पर सबसे अधिक आग्रह उसके प्रेमी पाठकोंका ही था और उन्हींके प्रेम और हिन्दी पुस्तक भवनके उत्साहका यह फल है कि लेखकके अशान्तिपूर्ण कार्यक्रममें उसे इस पुस्तकके संशोधनादि कार्यके कारण बहुत कुछ शांति प्राप्त हुई और आज सरलगीताका यह तीसरा संस्करण पाठकोंके सामने उपस्थित किया जा सका।

यह तीसरा संस्कार है। इसलिये स्वभावतः ही पहले दो संस्कारोंकी अपेक्षा इसमें बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। पहले गीताके श्लोकोंका भावानुवाद मात्र था। पर गीता जैसे ग्रन्थके भावानुवादमें एक बड़ा भारी दोष रह जाता है। गीताका सम्पूर्ण भाव प्रगट करना हमारे जैसे प्राकृत जनोंके लिये असंभव है। इसलिये ऐसे ग्रन्थोंका भावानुवाद सदा ही अधूरा रहता है और जो लोग संस्कृत भाषासे अनभिज्ञ हैं उन्हें उसमें और अनुसन्धान करनेका अवसर नहीं मिलता।

इसलिये इस बारके अनुवादमें इस बातका ध्यान रखा गया है कि प्रत्येक श्लोकके प्रत्येक शब्दका अर्थ अनुवादमें आ जाय जिसमें उस अर्थसे और भी अनुसंधान करनेका अवसर पाठकोंको मिले।

इस प्रकार प्रत्येक श्लोकका अर्थ देकर, उसके नीचे जहां जहां आवश्यकता हुई है वहां वहां, अपनी बुद्धिके अनुसार उसकी विशद व्याख्या करनेकी चेष्टा की है और प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें उस अध्यायका विषयप्रवेश तथा अध्यायके अन्तमें उस अध्यायका सारांश दिया है। यह संपूर्ण व्याख्या सर्वत्र ब्रैकेटके अन्दर है। पूर्वके संस्करणोंमें जो 'उपसंहार' था वह इसमें भी परिशिष्टके रूपमें दिया गया है।

सरलगीताके द्वितीय संस्करणमें जो "पूर्ववृत्तान्त" था वह इसमें नहीं दिया गया है पर उसका सारांश आरम्भमें दिये हुए "गीतामाहात्म्य" प्रकरणमें आ गया है। "गीतामाहात्म्य" में गीताकालीन परिस्थितिका विचार किया गया है और संक्षेपसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाका भी वर्णन किया है क्योंकि एक तो यह लीला उस गीताज्ञानकी कर्मरूपी व्याख्या है और दूसरे वक्ताके माहात्म्यसे ही ग्रन्थका माहात्म्य होता है। गीता ग्रन्थकी सर्वमान्यताका वर्णन करके अन्तमें गीतोपदेशका सारांश भी दे दिया है जिसमें श्रद्धा और भक्तिपूर्वक गीतापाठ करनेकी स्थितिमें सहायता हो।

गीतार्थकी इस व्याख्यामें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके भाष्य

श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी टीका, लोकमान्यके गीतारहस्य, श्रीअरविन्द घोषके "एसेज आन दि गीता" भाई परमानन्दके 'गीतामृत' रा० ब० वैद्यकी 'महाभारत मीमांसा' श्री हीरेन्द्रनाथ दत्तके "गीताय ईश्वरवाद" आदि सर्वमान्य ग्रन्थोंसे यत्र तत्र सहायता ली है। टिप्पणियां लिखनेमें सबसे अधिक लोकमान्यके "रहस्य"का आश्रय लिया है और कई स्थानोंमें श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी टीका तथा ज्ञानेश्वरीसे बहुत बड़ी सहायता मिली है। "गीतामाहात्म्य"में कुछ स्थानोंमें श्रीअरविन्द घोषके विचार स्वीकार किये हैं। परन्तु गीतार्थ करनेमें दृष्टि गीताके श्लोकोंपर ही केन्द्रीभूत रही है।

यह प्रयत्न अपूर्ण है। कारण गीताज्ञान मन और बुद्धिके परेका ज्ञान है और उसका विस्तार अनन्त है। वह ज्ञान ईश्वरानुग्रहसे ही सिद्ध होता है। परन्तु गीताध्ययन करना भगवानकी ही ज्ञानयज्ञरूपसे उपासना है और इसी भावसे यह प्रयत्न किया गया है।

कलकत्ता,
आषाढ़ कृ० ५, सं० १९८० } लक्ष्मणनारायण गर्दे
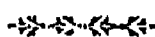
श्रीमद्भगवद्गीता

गीतामाहात्म्य

श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञानविज्ञानका अथाह समुद्र है। पांच सहस्र वर्षसे इसका मन्थन हो रहा है पर अभीतक नये नये भाष्य और नयी नयी टीकाएं इसमेंसे निकलती ही जा रही हैं और यह प्राचीन ग्रन्थ सदा ही नवीन मालूम होता है। यह समस्त वेदोंका सार है और हिन्दू जनसमाजमें इसका आदर वेदोंके समान है। यह ब्रह्मविद्या है और ब्रह्मविद्याके आधारपर संगठित हिन्दू समाजकी दृष्टिमें ब्रह्मविद्याप्रतिपादक वेद अर्थात् उपनिषद्, उन उपनिषदोंका समन्वय करनेवाले ब्रह्मसूत्र और यह श्रीमद्भगवद्गीता ये ही तीन ग्रन्थ समग्र ज्ञानविज्ञानके भांडार और धर्म्मके आधार हैं। इन्हीं तीन ग्रन्थोंको प्रस्थानत्रयी कहते हैं, क्योंकि "संसारसागरके यात्री इन्हीं तीन ध्रुव तारोंको लक्ष्य करके अपने गम्यस्थान सुखधाम (विष्णवाख्यं परमं धाम) की ओर प्रस्थान करते हैं।" हिन्दू धर्म्मके सब संप्रदायों—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत इत्यादि सभी संप्रदायोंका आधार यही प्रस्थानत्रयी है। परन्तु इस प्रस्थानत्रयीके तीनों प्रस्थान ग्रन्थरूपमें भिन्न भिन्न होनेपर भी

यथार्थमें एक ही हैं, क्योंकि ब्रह्मविद्याप्रतिपादक वेद अर्थात् उपनिषदोंके व्याख्यान ही ब्रह्मसूत्र हैं और ब्रह्मसूत्रोंमें जो कुछ है वही श्रीमद्भगवद्गीतामें है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता वेदोंका ही सार है। इसीलिये कहा है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

"सब उपनिषद् गौएं हैं और गोपालनन्दन दूध दुहनेवाले हैं। पार्थ वत्स हैं और बुद्धिमान् पुरुष इस गीतामृतरूपी दूधके भोक्ता हैं।" उपनिषदोंकी भाषा कठिन है, ब्रह्मसूत्र भी सब लोग नहीं समझ सकते; गीताकी भाषा सरल है और यह है भी सब उपनिषदोंका सार। इसलिये एक गीताका अध्ययन करनेसे ही समग्र वेदान्तके अध्ययनका फल मिल जाता है। शायद इसीलिये कहा भी है कि—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैःशास्त्रविस्तरैः।

उपनिषद् वेद हैं। वेद अपौरुषेय हैं—ब्रह्माके मुखसे प्रकट हुए हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने उन्हें सुनकर सबको सुनाया है। उन्हीं वेदवचनोंका परस्पर समन्वय कर वेदव्यास भगवान् महर्षि श्री-कृष्ण द्वैपायनने वेदान्तदर्शनकी रचना की और उन्हीं वेदवचनोंका सार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने श्रीमुखसे अर्जुनको सुनाया, और वेदान्तदर्शनकार महर्षि व्यासजीने ही अपने 'महाभारत' ग्रन्थमें श्रीकृष्ण भगवान्के उन वचनोंको ग्रथित

किया। इसलिये वक्ताके अधिकारकी दृष्टिसे भी श्रीमद्भगवद्गीताकी वही महिमा है जो उपनिषदोंकी है और इसलिये इसे उपनिषद् कहते भी हैं। गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ' " आदि कहा जाता है। पूर्ण संकल्प इस प्रकार है—

> "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे......

अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् है, इसका विषय ब्रह्मविद्या है, हेतु योग (ईश्वरसे संयोग) और उस योगका मार्ग बताना है, और यह ब्रह्मविद्या श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादके रूपमें बतायी गयी है। सरल भाषा, पद्धति संवादकी, विषय अक्षय सुखकी प्राप्तिका, बतानेवाले साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र, इतनी बातें जहां एक साथ हैं वहां कमी ही किस बातकी है? पर श्रीमद्भगवद्गीताके असीम महात्म्यका इससे भी अधिक स्पष्ट दर्शन हमें तब होगा जब हम यह विचार करेंगे कि किस प्रसंगपर यह गीताज्ञान प्रकट हुआ है; क्योंकि ग्रन्थका महत्व उसके वक्ता और प्रसंगपर बहुत कुछ निर्भर करता है।

गीताप्रसंग

प्रसंग क्या है?—युद्ध।

ब्रह्मविद्याप्रतिपादक और जितने ग्रन्थ हैं सब एकान्त स्थानमें और शांतिके समयमें बने हैं। उपनिषदोंके जो संवाद

हैं वे उन लोगोंके संवाद हैं जो प्रपंच-रणसे विमुख होकर अरण्यमें ब्रह्मचिन्तन कर रहे थे जहां ब्रह्मचिंतन ही उनका एकमात्र व्यवसाय था और उस एकान्तको भंग करनेवाली और कोई बात न थी। संसारके और भी जितने सर्वमान्य ग्रन्थ हैं—बुद्धदेवके धर्म्मपदसे लेकर हजरत महम्मदके कुरानशरीफतक—सब ऐसी शान्तिके समय ही बने हैं जब मनुष्य तन्मय होकर गहनसे गहन विचारोंमें गोते लगा सकता है। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीताका ज्ञान उस समय प्रकट हुआ है जब घोर संग्राम उपस्थित है—जब बुद्धिको रणनीति सोचनी पड़ती है, नेत्रोंको शत्रुओंकी गति देखनी पड़ती है, कानोंको शत्रुओंकी आहट सुननी पड़ती है, जिह्वासे शत्रुको ललकारना पड़ता है, पैरोंसे शत्रुपर चढ़ जाना पड़ता है, हाथोंसे उनके सिर धड़से अलग करने पड़ते हैं—जब अन्तःकरण और शरीरके सारे अवयवोंको एक साथ केवल एक संग्राममें ही प्रवृत्त होना पड़ता है—जब मरने और मारनेके सिवाय दूसरी बात ही नहीं रहती। उस महान् अशांतिमें सौभाग्यशाली वीर पुरुषोंके हृदयमें यह शांति रह सकती है कि—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

पर ब्रह्मविद्याप्रतिपादनकी शांति कहांसे आयी? प्रसंग अद्भुत है। ऐसी घोर अशांतिके समय यह परम शांति विराज रही है, यही तो श्रीमद्भगवद्गीताका महत्व है और यही उसका प्रतिपाद्य विषय है। ऐसी अशांतिके समय भी जो ज्ञान स्वाभाविक

रूपसे प्रकाशित हो रहा है वही ज्ञान है और वही वक्ता ज्ञानी है। अ-रणकी अवस्थामें अथवा अरण्यमें ज्ञानकी जो बातें जिसे सूझ जाती हैं उन्हें वह कहता है तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि रणमें भी उसका वह ज्ञान प्रकाशित हो रहा है। वही ज्ञान विज्ञान है— अनुभवसिद्ध ज्ञान है, कोरी कल्पना नहीं। श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसा ही अनुभवसिद्ध ज्ञान है।

जगद्गुरु श्रीकृष्ण

इस ज्ञानके ज्ञाता और वक्ता साक्षात् आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्र हैं जिनकी अलौकिक लीलाका गुणगान आज भी भारतवर्षमें सर्वत्र हो रहा है। श्रीमद्भगवद्गीताके अगाध उदधिमें प्रवेश करनेके पूर्व इस ज्ञानालोकस्वामी भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्णका नामस्मरण और ध्यान कर लेना उचित है।

प्रपन्न पारिजाताय तोत्रवेत्रैक पाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

परमानन्द परमसुखधाम श्रीकृष्णचन्द्र जगद्गुरु हैं और उनका गीतोपदेश समग्र जगत्‌के उद्धारका संदेश है।

जिस परिस्थितिमें यह संदेश संसारको दिया गया और जिस अलौकिक पुरुषने यह संदेश सुनाया उसका यहां कुछ विस्तृत वर्णन करना अप्रासंगिक न होगा।

तत्कालीन परिस्थिति

उस समय भारतवर्षमें गांधार (अफगानिस्तानके कन्दहार) प्रदेशसे लेकर प्रागूजोतिष याने आसामतक और काश्मीरसे सह्याद्रि-पर्वत-परंपराके और भी दक्षिणमें, बहुत दूरतक, हिन्दू आर्य-क्षत्रियोंके अनेक छोटे बड़े स्वतन्त्र राज्य थे और सभी राज्य धन- धान्य-समृद्ध तथा ऐहिक उन्नतिकी पराकाष्ठाको पहुंचे हुए थें। स्थान स्थानमें बड़े बड़े नगर और व्यापार-केंद्र थे तथा बड़े बड़े राजप्रासादों, सरोवरों, उद्यानों और क्रीड़ास्थलोंसे देश परिपूर्ण था। सभी राजा प्रतापी और वीर थे। सभी स्वतंत्र थे और कोई चक्रवर्ती राजा नहीं था, यद्यपि उस समय मगध-देशके राजा जरासंधकी धाक सबसे अधिक बैठी थी और यदि कोई राजा किसीको कुछ समझता था तो जरासंधको ही। जरासंधने कितने ही राजाओंको अपने यहां कैद भी कर रखा था, जिससे सब राजा उससे डरते थे और उसका लोहा मानते थे। जरा-संधने जो इतने राजाओंको अपने यहां कैद कर रखा था, उससे यह मालूम होता है कि जरासंधको अपने बलका बड़ा भारी अभिमान था और वह सर्वत्र अपने ही राज्यका विस्तार किया चाहता था। उन्नतिकी पराकाष्ठाको पहुंचे हुए राज्योंमें पहली

बात जो हम देखते हैं वह यही है कि अपने बलका गर्व और लोभ बेतरह बढ़ा हुआ था। चेदि-देशके राजा शिशुपाल आदि और भी अनेक गर्विष्ठ राजा उस समय मौजूद थे। प्राग्ज्योतिषका राजा जैसा बलवान् था वैसा ही विलासी और दुराचारी भी था। उसने अपने राज्यमें ऐसा दुराचार आरम्भ किया था कि अपने भोग विलासके लिये उसने सोलह हजार एक सौ सुन्दरी कुमारियां चुनकर अपने रङ्गमहलमें ला रखी थीं। दूसरी बात यही विलासिता और अनाचार है। तीसरी बात—कंसके दरबारमें यह अत्याचार दिखायी देता है कि उसने अपने पिता परम नीतिमान् महाराज उग्रसेनको कैद कर राजगद्दी पायी थी और प्रजापर वह असह्य अत्याचार कर रहा था। चौथी बात—पाञ्चाल देशमें कौरव-पांडवोंका भयंकर अन्तःकलह है, जहां इस अन्तःकलहके साथ साथ विलासिता, दुराचार, अमानुषी अत्याचार तथा सत्यानासी गर्वकी मूर्त्तियां भी मौजूद थीं। इस वर्णनसे यह स्पष्ट है कि उस समय इन स्वतंत्र हिन्दू राज्योंकी ऐहिक उन्नति तो पराकाष्ठाको पहुंची हुई थी पर इन राजपुरुषोंका चरित्र भ्रष्ट हो चुका था। जब राजा तथा राजपुत्रोंका ही चरित्र भ्रष्ट हो तब प्रजा कहांसे सुखी हो सकती है? इसीलिये प्रजाको दुःख था और पृथ्वीके लिये यह पापका बोझ असह्य हो उठा था।

सामाजिक आचार-विचार

राजपुरुषोंके चरित्र भ्रष्ट हो रहे थे; पर स्त्रियोंमें अभीतक धर्म बाकी था। दुर्योधन जैसे पापी, दुष्ट और ईर्ष्यालुकी माता

और धृतराष्ट्र जैसे नयनोंके साथ हियेके भी अन्धेकी स्त्री गांधारी, पातिव्रत-धर्मकी प्रत्यक्ष प्रतिमा है। धृतराष्ट्र अन्धे थे, इसलिये इस साध्वी स्त्रीने भी जन्मभर अपनी आंखोंपर पट्टी बांध रखी थी। "पति जब अंधे हैं, तब ये नेत्र लेकर मैं क्या करूंगी?" धन्य हो देवी! पातिव्रत धर्मका ऐसा दृष्टान्त भारतवर्षके इतिहासमें ही मिल सकता है। यह सच है कि द्रौपदीके पांच पति थे और इससे यह मालूम होता है कि उस समय ऐसी प्रथा रही होगी। आज भी हिमालयके पहाड़ोंमें रहनेवाली जातियोंमें ऐसी प्रथा देखनेमें आती है। परन्तु द्रौपदी पतिव्रता थी, इसमें सन्देह ही क्या है? उसका पातिव्रत धर्म उतना ही ज्वलन्त है जितना भगवान् रामचन्द्रकी अर्द्धाङ्गिनीका या किसी एक पतिवाली सती स्त्रीका। यह उसके पातिव्रत धर्मका ही प्रताप था जो कौरवोंकी सभामें भगवान्‌ने उसकी लाज रखी। पातिव्रत-धर्मके संबंधमें उस समय भी वेही भाव थे, जो आज हैं, बल्कि यह कहिये कि स्त्रियोंका सतीत्व-धर्म ही उस समय हिन्दू-समाजकी रक्षा कर रहा था। पतिके संग जलकर सती हो जानेकी प्रथा उस समय भी थी और नकुल-सहदेवकी माता माद्री अपने पति पांडुके साथ एक चितापर जलकर पतिके पीछे पीछे स्वर्ग गयी थीं। परन्तु सभी स्त्रियां नहीं जलती थीं। वे पतिके पीछे भी संसारमें रहकर अपना धर्म निबाहती और कर्त्तव्य-पालन करती थीं। उस समय स्त्रियां शास्त्र समझती थीं और शास्त्रकी चर्चा भी करती

थीं। पर यह कल्पना रूढ़ हो चली थी कि स्त्रियोंको मोक्षका अधिकार नहीं है।

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था

उस समयकी परिस्थितिमें एक बात विशेष रूपसे यह दिखायी देती है कि ब्रह्म-बलसे क्षात्र-बलकी प्रतिष्ठा अधिक हो रही थी। उस समय भी नगरसे दूर तपस्वियों और ऋषियोंके आश्रम, गुरुकुल और विद्यापीठ थे, जहां ब्राह्मण क्षत्रिय एक साथ रहकर गुरुकी सेवा करते हुए वेदों और शास्त्रोंका अध्ययन करते थे। तथापि अनेक गुरु राजाके अधीन होकर भी रहते थे। जिस प्रकार एक ओर सर्वतंत्र-स्वतंत्र सांदीपनी ऋषिका आश्रम था जहां श्रीकृष्ण और सुदामाने एक साथ विद्या पढ़ी थी, उसी प्रकार हस्तिनापुरकी राजधानीमें राजाके अधीन रहकर गुरु द्रोणाचार्य्य राजपुत्रोंको पढ़ाते और एक प्रकारसे उनसे दवे रहते थे, और इसी कारणसे कौरव पांडव-युद्धमें उन्हें कौरवोंका साथ देना पड़ा था। ब्राह्मण इस प्रकार अपने पदसे पृथक् हो रहे थे और अनेक ब्राह्मणोंने ब्रह्म-कर्म छोड़ क्षत्रिय-वृत्तिही धारण कर ली थी। उसी प्रकार यादवादि अनेक क्षत्रियोंने क्षात्र वृत्ति छोड़कर वैश्य-कर्म अंगीकार कर लिया था। इससे यह मालूम होता है कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भंग होने लगी थी। परन्तु यह बात नहीं है कि उस समय धर्मज्ञ ऋषियों और ब्राह्मणोंका अभाव हो। सांदीपनी-ऋषिका नाम ऊपर आ ही चुका है

भारतकार श्रीकृष्णद्वैपायन जैसे परम तपस्वी और ब्रह्म-ज्ञानी लोग भी उस समय मौजूद थे। परन्तु ये लोग राज-काज आदि सांसारिक कार्यामें दखल नहीं देते थे। ये एकदम निवृत्ति-परायण हो गये थे। इनकी निवृत्ति-परायणता और राजपुत्रोंकी प्रवृत्ति-परायणता देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय एक तरफ निवृत्ति-मार्गकी पराकाष्ठा थी तो दूसरी तरफ प्रवृत्ति-मार्गकी। निवृत्ति-मार्गके लोग संसारको माया समझकर वनवास और संन्यासको ही परम पुरुषार्थ समझते थे और प्रवृत्ति-मार्गके लोग सांसारिक सुखोपभोगके परे कुछ देखते ही न थे। राजाओंको यह जरूरत नहीं जान पड़ती थी कि ऋषि-मुनियों या वेदवेत्ता ब्राह्मणोंसे सलाह लें और ब्राह्मणोंको भी राज-काजमें दखल देना मोक्ष-धर्मके प्रतिकूल मालूम होता था। इस तरह राज-धर्म और मोक्ष-धर्मका परस्पर संबंध ही टूट चुका था। आज जिसे हम पाश्चात्य सभ्यता कहते हैं, जिसका आधार केवल सांसारिक सुख-साधनोंकी वृद्धि है, उसी सभ्यताके लक्ष्यहीन मार्गपर यहांका राज-वंश चल रहा था। हां, कुछ अपनी प्राचीन सभ्यताके अभिमानी लोग भी थे, परन्तु राज्य-सूत्र उनके हाथमें नहीं थे। यही नहीं, बल्कि राज-काजसे उनका जी ऊब गया था और वे सब काम-धाम छोड़कर हरि-नाममें रत हो जाना ही मोक्षका एकमात्र उपाय मानते थे। यह बात श्रीमद्भगवद्गीतान्तर्गत अर्जुनके तत्त्व-ज्ञानसे स्पष्ट हो जाती है। उस कालके धर्म-परायण पुरुषोंके

कैसे विचार थे, वे अर्जुनके मुखसे प्रकट होते हैं, जो कहता है कि मुझे राज्य नहीं चाहिये, मैं युद्ध न करूंगा, भिक्षाटण करके रहूंगा और ईश्वरकी आराधना करूंगा। इस तरह धर्म-परायण लोग राज-काजको धर्म नहीं समझते थे और राज-काजी लोग धर्मसे कोई नाता नहीं रखते थे।

यही तो साधारणतः ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी अवस्था थी। वैश्योंका यह हाल था कि वे गौएं चराते और खेती करते थे; परन्तु ब्राह्मण और क्षत्रिय उन्हें मोक्षके अधिकारी नहीं समझते थे। उनकी अवस्था सर्वसाधारण स्त्रियोंकीसी थी। उनमें शिक्षाका प्रचार नहीं था। वे वेदों और उपनिषदोंके गहन तत्व नहीं समझ सकते थे। शूद्रोंकी अवस्था तो और भी खराब थी। एकलव्यके दृष्टान्तसे यह मालूम होजाता है कि शूद्रोंको धनुर्विद्याका भी अधिकार नहीं था और वे समाजके बाहर ही समझे जाते थे! आर्योंमें उनकी गणना नहीं होती थी। इस प्रकार उस समय समाजश्रृङ्खला छिन्न भिन्न हो रही थी।

तात्पर्य—उस समय राज्य-सूत्र अधर्मी राजाओंके हाथमें थे। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बिगड़ गयी थी। स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रोंका मोक्षका अधिकार भी नहीं माना जाता था, क्योंकि वे सदा संसारमें ही रत रहते थे और धर्मपरायण पुरुषोंकी इतनी अधिक उन्नति हुई थी कि त्यागियोंका एक अलग समाज ही स्थापित हो गया था और वे लोग राजकाजसे अलग हो गये थे। इस तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनोंकी

पराकाष्ठा हो गयी थी। एक ओर अधर्मकी प्रबलता थी और दूसरी ओर धर्मकी ; पर अधर्मको मारकर धर्मको राजगद्दी दिलानेवाला कोई नहीं था। इसी हेतुको सिद्ध करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णका अवतार हुआ था।

श्रीकृष्ण लीलाकी मुख्य घटनाएं

भाद्र कृष्ण अष्टमीकी रातको, रोहिणी-नक्षत्रमें, आकाशसे पर्जन्य वृष्टि होने और विद्युल्लताके कड़कनेके साथ श्रीकृष्णका जन्म हुआ था। रातोंरात वसुदेव उस बालकको गोकुलमें पहुंचा आये। गोकुलमें गौओं और गोपोंके बीचमें उसका लालन पालन हुआ। ये गोप कौन थे? यादव-कुलके अनेक क्षत्रियोंने क्षात्र-वृत्ति छोड़ दी थी और वे वैश्योंका पेशा करने लगे थे। इस तरह ये गोप और वैश्य थे और क्षत्रिय भी। इनमें अनेक शूद्र भी रहे हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। ये गोप नगर-निवासी नहीं थे। नगरोंसे बचे हुए स्थानोंमें ये अपनी गौओंके साथ कभी यहां, कभी वहां, इस तरह वनजारोंके समान रहते थे। इनका स्वभाव सरल था; ये सहृदय होते थे, ईश्वरके अस्तित्वमें इनका विश्वास था; पर इनमें आर्य-संस्कृति नहीं थी—वर्णाश्रम-धर्मका पालन नहीं था। ऐसे लोगोंमें पलकर श्रीकृष्ण बढ़ने लगे। गोपोंका निष्कपट प्रेम, वनोंका स्वतंत्र समीर और सरस जीवनका निष्पाप-वायु-मण्डल इन बातोंने सुन्दर-शरीर-धारी श्रीकृष्णको निष्कपट प्रेमी और अतुल पराक्रमी बना दिया।

बचपनमें ही उन्होंने शरीर-सामर्थ्यके अद्भुत पराक्रम किये। वे गोपोंके प्राण थे और गोप उनपर अपने प्राण न्योछावर करनेको तैयार रहते थे। गोप मल्लविद्यामें बड़े प्रवीण थे। श्रीकृष्ण उसमें उनके अग्रणी हुए। दिन दिन गोपों और गोपालका बल बढ़ने लगा। कंस थथरा उठा! उसे सर्वत्र कालरूप कृष्ण दिखाई देने लगे। जलमें, स्थलमें, नभमें सर्वत्र श्रीकृष्णकी कालमूर्ति आविर्भूत होकर उसे डराने लगी। कृष्णको मारनेके लिये कंसने जाल बिछाया; पर उसमें वह आप ही जा फंसा और अन्तमें मारा गया।

श्रीकृष्णने कंसको मारकर उसका राज्य स्वयं नहीं लिया। उग्रसेनको राजगद्दीपर बिठाकर आप एक सामान्य प्रजा-जनकी भांति अपने माता-पिता के पास मथुरामें रहने लगे। पर मथुराकी इस राज्यक्रान्तिसे भारतमें सर्वत्र श्रीकृष्णका नाम फैल गया और उस समय जो राजा राज्य करते थे, वे श्रीकृष्णको अपना शत्रु मानने लगे। जरासन्ध तो आग-बबूला हो उठा; क्योंकि एक तो श्रीकृष्णके रूपमें उसकी अधर्म-पूर्ण सार्व-भौम सत्ताके लिये एक नया शत्रु खड़ा हो गया और दूसरे, उसका दामाद कंस उन्हींके हाथों मारा गया था। इसलिये जरासन्धने मथुरापर चढ़ाई की। मथुरापर आये हुए इस संकटको टालनेके लिये श्रीकृष्ण वहांसे भाग गये। जरासन्धने मथुरासे अपनी फौज हटा ली और श्रीकृष्णका पीछा किया। गोमन्तपर्वतपर श्रीकृष्णने जरासन्ध आदिकी अपार सेनाका जिस

वीरता और रणकौशलके साथ संहार किया है, इतिहासमें उसका कहीं जोड़ नहीं है। इस युद्धके पश्चात् करवीर राजाके साथ श्रीकृष्णका युद्ध हुआ और उसमें करवीर–नरेश 'शृगाल' मारा गया। यह राज्य भी श्रीकृष्णने स्वयं नहीं लिया। बल्कि शृगालके पुत्रको गद्दीपर बिठाकर आप और आगे बढ़े और एक समुद्र-वेष्टित द्वीपमें अपनी छावनी और राजधानी कायम की, जिसे द्वारका कहते हैं। पर श्रीकृष्ण द्वारकाके भी स्वयं राजा नहीं हुए। आगे चलकर श्रीकृष्णने जरासन्धका वध कराया। पर वहां भी उन्होंने उसके पुत्र सहदेवको ही राजगद्दीपर बिठाया। फिर पौंड्रक वासुदेवको मारकर उन्होंने उसका राज्य भी उसीके पुत्रको सौंप दिया। इस तरह श्रीकृष्णने अपने पराक्रमकी सर्वत्र धाक तो बैठा दी; पर राज्य किसीका नहीं छीना। उन्होंने कंसका वधकर मथुरामें नीति और न्यायका राज्य स्थापित किया। जरासन्धका वध कराके राजाओंको कैदसे छुड़ाया और नरकासुरका नाश करके सोलह हजार एक सौ कुमारियोंको मुक्त किया, जो श्रीकृष्णके साथ ही द्वारकामें आकर रहने लगीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थान स्थानमें राज्यक्रान्ति करानेमें श्रीकृष्णका कोई महान् उद्देश्य था उसमें उनके अपने स्वार्थका लेश भी नहीं था।

भगवानका उद्देश्य

गोमन्तसे लेकर आसामतक सारे भारतको एकबार पादाक्रान्त करके श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको भारतका सार्वभौम सम्राट्

निर्वाचित करनेका उद्योग किया। युधिष्ठिरके राज-सूय-यज्ञ करनेका यही मतलब है। यह राज-सूय-यज्ञ करके किसीको चक्रवर्त्ती-राजा माननेकी क्या आवश्यकता थी और युधिष्ठिरको यह पद क्यों दिया गया? इसका उत्तर यह है कि भारतव्यापी भिन्न भिन्न राज्योंको एक सूत्रमें बांधकर एकत्व स्थापन करनेका उद्योग प्राचीन कालसे होता चला आया है। इस उद्योगको सब लोग एक महान् पुण्यकर्म समझते थे। इसकी उपयोगिता आधुनिक राजनीतिजिज्ञासु भी समझ सकते हैं। प्रिन्स बिस्मार्कने जिस प्रकार जर्मनीके छोटे छोटे राज्योंको एक करके एक महान् शक्तिशाली जर्मन साम्राज्य स्थापित किया, बाह्यतः श्रीकृष्णका यह उद्योग भी उसी प्रकारका था। परन्तु इसमें और उसमें बड़ा भारी अन्तर इस बातका है कि इसका उद्देश्य धर्म-संस्थापन था और उसका इसके विपरीत। इसीलिये इस राज-सूयमें चेदि-देशके राजा शिशुपाल जैसे महाप्रतापी राजओंने पुण्य-कर्म जानकर ही योग दिया था। परन्तु युधिष्ठिर ही सम्राट् क्यों माने गये? उनसे अधिक तेजस्वी और प्रतिभावान् राजा भी अनेक थे। परन्तु युधिष्ठिरके समान धार्मिक, दयावान्, न्याय-पूर्ण, सत्यवादी, सत्य-प्रतिज्ञ और सत्यकर्मा दूसरा न था। युधिष्ठिर साक्षात् धर्मराज थे और इसीसे धर्म-रक्षाके लिये किये जाने-वाले राजसूय-यज्ञमें धर्मराजको ही राज्याभिषेक कराया गया। इस प्रकार धर्म-रक्षणार्थ साम्राज्य-स्थापनका महान् उद्योग सफल हुआ, पर धर्मराज्यमें अभी अनेक विघ्न थे। कंस, जरासन्ध

आदिका वध हो चुका था, श्रीकृष्ण और पाण्डवोंकी धाक बैठ गयी थी, युधिष्ठिरको साम्राज्याभिषेक भी कराया जा चुका। पर भीतर ही भीतर राजाओंके षड्यन्त्र चल रहे थे। श्रीकृष्ण राजसूयसे लौटकर द्वारका पहुंचते हैं तो क्या देखते हैं कि वहां शत्रुओंने द्वारकापर चढ़ाई करके नगर नष्ट कर डाला है। श्रीकृष्ण इधर शत्रुओंसे लड़ते हैं, उधर पाण्डव कौरवोंके जालमें फंसते हैं। पाण्डव जुएमें हारकर १२ वर्ष वनवास और १ वर्ष अज्ञात-वासके लिये चले जाते हैं। श्रीकृष्णको चैन नहीं है। जिस दिन उन्होंने कंसको मारा, उस दिनसे उन्हें एक क्षण भी विश्राम करनेको नहीं मिला। उन्हें नित्य नये शत्रुओंसे सामना करना पड़ता है; पर इससे श्रीकृष्णके उद्देश्य कोही रास्ता साफ़ होता जाता है।

पाण्डव चले गये, दुर्योधन युधिष्ठिरके सिंहासनपर बैठा। जब वन-वास और अज्ञातवास समाप्त हुआ, तब पाण्डव प्रकट हुए और अपना राज्य वापिस मांगने लगे। वे कमसे कम पांच ग्राम चाहते थे, पर कौरवोंने नहीं माना। श्रीकृष्णने मध्यस्थता की, पर कौरवोंने किसीकी नहीं सुनी। तब युद्ध हुआ। उस युद्धमें अठारह अक्षौहिणी सेनाका संहार हो गया। केवल दस आदमी बचे।

भारतीय युद्धमें क्षत्रियोंका यह जो भयङ्कर संहार हुआ उसीको बहुतसे लोग भारतकी वर्तमान अवनतिका मूल समझते हैं। पर जिनकी ऐसी समझ है, उन्होंने श्रीकृष्ण-लीलाका रहस्य

ही नहीं समझा है। जिस समय युद्ध आरम्भ होनेको था, उसी समय अर्जुनको यह शंका हुई थी कि इस युद्धका परिणाम बुरा होगा, क्षत्रिय-कुल नष्ट हो जायगा, क्षत्राणियां व्यभिचारिणी होंगी और वर्ण-संकर फैलेगा, अधर्मका ही राज्य होगा, फिर धर्म कहां रह जायगा? इसी शंकाका समाधान करनेके लिये श्रीकृष्णने उस समय वह दिव्य उपदेश दिया है जो आज भी धर्मकी रक्षा कर रहा है। यदि युद्ध न होता, तो क्या होता? कौरवोंका ही साम्राज्य होता। उस समय राजपुत्रोंकी क्या दशा थी, धर्मकी कैसी शोचनीय अवस्था थी, यह सब हम पहले लिख आये हैं। वास्तवमें उस समय दुराचारी, लोभी और परापहारी ही राजसिंहासनोंपर विराज रहे थे। युद्ध न होता तो इनका नाश न होता और अर्जुनको जिस बातकी शंका हुई थी कि युद्धसे क्षत्रियकुलका नाश होकर अधर्मका राज्य होगा, वही बात उस समय युद्धके पहलेसे हो रही थी और यदि युद्ध न होता तो वह बात इतनी बढ़ जाती कि धर्मका शायद नाम भी न रह जाता। पर युद्धसे अधर्ममें रत क्षत्रिय-राजाओंका युद्धमें नाश हुआ और युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, अजात-शत्रु और धर्मावतारका धर्मसाम्राज्य समस्त देशमें स्थापित हो गया।

श्रीकृष्णके अवतरणका हमें यही उद्देश्य मालूम होता है। मिसेज एनी बेसण्टने अपनी "अवतार" नामक अंगरेजी पुस्तकमें यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि भारतका ज्ञानामृत सारे संसारको पिलानेके लिये और संसार तथा भारतका अविच्छिन्न

सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये श्रीकृष्णने ऐसी परिस्थिति निर्माण की जिससे भारतपर विदेशियोंकी चढ़ाइयां होने लगीं और अन्तको भारतमें उन लोगोंका राज्य हुआ जो आज यहां राज्य कर रहे हैं। इन बड़े बड़े शब्दोंके शृङ्गारसे सजाकर मिसेज वेसण्टने यही सीधी सादी बात कही है कि श्रीकृष्णका अवतार इसलिये हुआ कि भारतमें अङ्गरेजोंका राज्य हो। परन्तु यह कथन केवल "मुखमस्तीति वक्तव्यं, दशहस्ता हरीतकी" वाली कहावतको ही चरितार्थ करता है। हां, इसमें चढ़ाइयोंकी जो बात लिखी है वह बहुतोंको भ्रममें डाल सकती है और बहुतेरोंका ऐसा खयाल हो सकता है कि उस भारतीय युद्धका ही यह परिणाम हुआ कि इस देशपर विदेशी सेनाएं आक्रमण करने लगीं; परन्तु यह खयाल बिलकुलही गलत है। इसके विपरीत, यदि वह युद्ध न होता तो उस समयके धर्म-भ्रष्ट राजपुत्र अपने दुराचार, लोभ, परापहार और अन्तःकलहसे देशको किस गड्ढेमें ढकेल देते, उसकी कल्पना करना भी कठिन है। श्रीकृष्णने उन राजपुत्रोंका ससैन्य संहार करके धर्म-राज्यकी संस्थापना की। उस धर्मराज्यका यह प्रभाव था कि सम्राट् युधिष्ठिरके पश्चात् परीक्षितने कलिको बांध रखा था अर्थात् अधर्मसे धर्मकी रक्षा की थी। यदि श्रीकृष्णने भारतीययुद्ध कराकर धर्मराज्य न स्थापित किया होता, तो भारतके दासत्व-कालके आनेमें देर न लगती। उस युद्धके बाद ढाई हजार सालतक भारतमें विदेशियोंके पैर नहीं पड़ सके, यह उसी धर्मराज्यका प्रताप था। विदेशियों-

की चढ़ाइयां आरम्भ होनेके बाद भी दो हज़ार वर्षतक भारतके क्षत्रिय-कुलमें अपनी मातृभूमिकी रक्षा करनेकी सामर्थ्य थी—चन्द्रगुप्त, पुष्पमित्र, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य आदि अनेक अलौकिक पुरुष बराबर अवतीर्ण होकर स्वदेशकी रक्षा करते रहे। यह उसी धर्मराज्यकाही प्रताप था, जो भारतीय युद्धके बाद साढ़े चार हजार वर्षतक दिग्दिगन्तमें भारतकी कीर्ति-पताका फहराती रही और दूर दूर देशोंके लोग यहीं आकर धर्मकी शिक्षा पाते रहे। भारत संसारका शिक्षागुरु था। भारतमें धर्म था, सत्य था, वीरता थी और ये सब बातें अलौकिक मात्रामें थीं। चीनी यात्री ये सब बातें अपने ग्रन्थोंमें लिख गये हैं—"भारतमें उस समय कोई झूठ नहीं बोलता था,—"यह पढ़कर आज आश्चर्य होता है; पर यह श्रीकृष्णके उस धर्मराज्यका ही प्रभाव था।

श्रीकृष्ण-चरित्रकी यही केंद्र घटना है, जिसका यहांतक वर्णन हुआ। यही श्रीकृष्णकेजीवनका मुख्य उद्देश्य था। अब यह देखिये कि किन साधनोंको लेकर श्रीकृष्णने यह उद्देश्य सिद्ध किया। महान् उद्देश्यको लेकर जो महान् पुरुष संसारमें अवतीर्ण होते हैं उनमें वैसेही महान् गुण होते हैं—उनका व्यक्तिगत चरित्र इतना उन्नत और दिव्य होता है कि सारा संसार उनकी तरफ खिंच जाता है। श्रीकृष्णका व्यक्तिगत चरित्र इतना पवित्र और अलौकिक था कि उनके समकालीन भीष्म जैसे महान् तपस्वी भी उन्हें साक्षात् ईश्वरका अवतार मानते थे और दुर्योधन जैसे दुष्टात्मा भी उन्हें निस्पृह, सत्य-प्रतिज्ञ और

परोपकारी महात्मा जानते थे। दुर्योधन श्रीकृष्णसे मदद मांगने गया था, इससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है।

श्रीकृष्णचरित्रपर आक्षेप

श्रीकृष्णके ऐसे निष्कलंक चरित्रपर दो प्रकारके दोष भी लोगोंने आरोपित किये हैं। एक दोष तो कपटाचरणका है और दूसरा व्यभिचारका। परंतु ये दोनों ही आक्षेप निर्मूल हैं।

कपटाचरणका जो आक्षेप है उसका आधार, एक तो द्रोणाचार्यके बधकी कथा है। श्रीकृष्णने ही अश्वत्थामाके मारे जानेकी झूठी खबर उड़ायी और युधिष्ठिरसे मिथ्या-भाषण कराया। सामान्य रण-नीति या कूट-नीतिके विचारसे इसमें कोई निन्दनीय बात नहीं हुई। पर ईश्वरावतार श्रीकृष्ण भगवानका यह मिथ्या-भाषण क्या है, यह समझ लेना चाहिये। जिस अवस्थामें अश्वत्थामाके मारे जानेकी अफवाह उड़ायी गयी थी, वह अवस्था ऐसी थी कि द्रोणाचार्य स्वयं धर्म-युद्धके विरुद्ध उन लोगोंपर अस्त्रोंका प्रयोग कर रहे थे जो अस्त्र चलाना नहीं जानते थे और यह स्पष्ट दिखाई देता था कि यदि द्रोणाचार्यका वध न हुआ तो सारी पांडव-सेनाका संहार हो जायगा। इसलिये मिथ्या भाषण करके पाण्डव सेनाको बचा लेना धर्म ही था। पर इसपर यह शंका हो सकती है कि इस आपद्धर्मकी शरण स्वयं त्रिलोकीनाथ भगवान श्रीकृष्णचंद्रको क्यों लेनी पड़ी। इसका समाधान यह है कि अपनी योगमायासे श्रीकृष्ण द्रोणका भी वध कर सकते थे, यही नहीं बल्कि युद्धके

विना भी सबका संहार कर सकते थे और अदृश्य रूपमें यह संहार प्रत्यक्ष युद्ध होनेके पूर्व ही हो चुका था जैसा कि भगवान-ने एकादश अध्यायमें स्वयं कहा है कि—

"मयैवैते निहताः पूर्व्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्"

अर्थात् मैं तो इन्हें पहले ही मार चुका हूं, तुम केवल निमित्त मात्र बनो; परन्तु उस योगमायाको यहां प्रकट करनेकी आवश्यकता नहीं थी। उन्हें यह शिक्षा देनी थी कि मनुष्य अपनी सामान्य मानवी शक्तिसे आपत्कालमें किस प्रकार अपनी रक्षा करे—किस प्रकार सामान्य सत्यको गौण समझकर महान् सत्यको रक्षा करे। इसलिये उस समय जैसी शिक्षाकी आवश्यकता थी वैसी शिक्षा उन्होंने दी। उन्होंने पांच अपवाद स्थान बताये जहां आपत्कालमें मनुष्य धर्मकी रक्षाके लिये झूठ भी बोल सकता है। इन पांच अपवाद स्थानोंके अतिरिक्त और किसी स्थानमें झूठ बोलना या कपटाचरण करना पाप है। इन पांच स्थानोंमें झूठ बोलना धर्म चाहे न हो, पर पाप नहीं है। इसलिये श्रीकृष्ण-पर मिथ्या-भाषण या कपटाचरणका आक्षेप नहीं किया जा सकता। यही नहीं, वल्कि श्रीकृष्ण आदर्श सत्यवादी थे और उनके सत्यके प्रतापसे ही उत्तराका मृत पुत्र फिरसे जीवित हो उठा था। श्रीकृष्णने एक सामान्य मनुष्यकी शक्तियोंसे ही सब काम किये हैं, कहीं अमानुष और अननुभूत शक्तिका प्रयोग नहीं किया है। इसलिये उन्होंने अफवाह उड़ाकर द्रोणका वध कराया, पर उनके सत्यका इतना वल था कि उससे अभिमन्युका वालक जी उठा।

इतना लिखनेके पश्चात् यह बतलानेकी आवश्यता नहीं रहती कि श्रीकृष्णने जो भीष्मजीको घिरवाकर मरवाया उसमें भी श्रीकृष्णने कोई अनुचित कार्य्य नहीं किया, क्योंकि अर्जुन और भीष्मका वह द्वन्द्वयुद्ध नहीं था, संहत-संग्राम हो रहा था और संहत-संग्राममें, जहां दोनों ओरकी सेनाएं एक दूसरीका केवल संहार कर रही थीं, वहां कहीं एक वीरने चार वीरोंको मारा तो क्या और चार वीरोंने मिलकर एकको मारा तो क्या, उससे धर्म-युद्धके नियमोंमें बाधा नहीं पड़ती। यदि भीष्मजीको घेरकर चारों ओरसे उनपर बाणोंकी वर्षा करना अनुचित होता तो पांडवोंकी ७ अक्षौहिणी सेनाके साथ कौरवोंका ११ अक्षौहिणी सेना लेकर युद्ध करना और भी अनुचित होता। इसलिये संहत-युद्धमें ऐसी बातोंका विचार नहीं किया जाता। शिखंडीको आगे करके पाण्डव इसीलिये लड़ रहे थे कि उन्हें मालूम था कि शिखंडीपर भीष्म बाण नहीं छोड़ेंगे। पर संहत-युद्धमें इसे भी अनुचित नहीं कह सकते।

दूसरा आक्षेप व्यभिचारका है। परन्तु यह बिलकुलही निराधार है। श्रीकृष्ण यदि व्यभिचारी होते, तो वे ऐसे बलिष्ठ न होते जैसे कि वे थे। उनके मुखमण्डलपर वह अलौकिक तेज न होता जो कि था। वे कंसकी रंग-भूमिमें उतरकर चाणूरका मर्दन न कर सकते—धर्म-राज्यकी स्थापना तो बहुत दूरकी बात है। श्रीकृष्ण यदि व्यभिचारी होते तो रुक्मिणी-स्वयंवरके अवसर-पर दन्तवक्रने उनके सदाचारकी जो प्रशंसा की है वह न की

होती और जरासन्ध, रुक्मी, शिशुपाल आदिने वह प्रशंसा चुप-चाप न सुन ली होती। उसी प्रकार राजसूय-यज्ञमें जहां शिशु-पालने श्रीकृष्णको दुनियाभरकी गालियां सुनायी हैं, वहां तो वह श्रीकृष्णको व्यभिचारी कहनेसे कभी बाज न आता। कौरवोंकी सभामें द्रौपदीने द्वारकावासी श्रीकृष्णका जब नाम स्मरण किया है तब उसने कृष्णको 'महायोगिन्! विश्वभावन!' आदि नामोंसे पुकारा है। श्रीकृष्ण व्यभिचारी होते तो संकट-कालमें द्रौपदीको उनका स्मरण न होता और उस स्मरणका कुछ फल भी न होता। इन बातोंसे यह स्पष्ट है कि यह आक्षेप सर्वथा निराधार है। बात यह है कि श्रीकृष्ण अत्यन्त सुन्दर थे और श्रीमद्भागवत-कारने उनकी सुन्दरताका वर्णन "स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्" कहकर किया है। सम्भव है, इसी "मूर्त्तिमान् कामदेव" की कुछ लीला वर्णन करनेके लिये कवियोंने श्रीकृष्णके काम-विला-सकी कल्पना कर ली हो। परन्तु उस काम-विलासमें भी यह खूबी है कि वर्णन तो शृंगारका है, पर अर्थ उसका वैराग्य है। उदाहरणार्थ, गोपियोंका वस्त्र-ग्रहण। ये गोपियां जब अपने २ वस्त्र उतार यमुनामें नहानेको उतरीं, तब श्रीकृष्ण उन वस्त्रोंको लेकर एक पेड़पर जा बैठे। चित्रकारोंने इस घटनाके जो चित्र बनाये हैं वे बिलकुल अशुद्ध हैं। चित्रकारोंने यह ख्याल नहीं किया है कि वे गोपियां युवती नहीं, बल्कि कुमारिकाएं थीं। दूसरी बात यह कि यह कथा लिखनेमें श्रीमद्भागवतकारका कुछ और ही अभिप्राय है। श्रीकृष्ण परमात्मा हैं, गोपियां जीवात्मा हैं,

उनके वस्त्र उनके शरीर हैं और गोपियां शरीर छोड़कर भगवानमें लीन हो रही हैं। श्रीकृष्णकी शृंगारलीलामें इसी प्रकार सर्वत्र वैराग्य अभिप्रेत है, पर इस गूढ़ रहस्यको न समझनेसे ही मूर्खलोग निष्कलंक श्रीकृष्णपर कलंक आरोपित करते हैं। यथार्थमें श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका जो भाव था, वह अत्यन्त पवित्र था। एक कविने नीचे लिखी कवितामें वह भाव बहुतही अच्छी तरहसे दरसाया है। एक सखी दूसरी सखीसे कहती है—

शृणु सखि ! कौतुकमेकंनन्दनिकेतनाङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसरितांगो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

श्रीकृष्णका चरित्र अत्यन्त पवित्र और निष्कलंक था। वे प्रेमी थे, रसिक थे और अपनी मधुर मुरलीकी तानसे गोपों, गोपियों और गौओंको रिझाते थे। दीन-दुर्बलोंकी सहायता और दुष्टोंका दमन करना तो उनका बचपनसे ही स्वभाव था। खिलाड़ियोंके साथ खेलना, हरिका गुणगान करनेवालोंके साथ भजन करना, दुष्टोंके साथ लड़ना, सबसे प्रेम करना, ईश्वर भक्तोंको उपदेश देना, दीनोंको दान देना, अतिथियोंका सत्कार करना, प्रेमियोंसे प्रेमकी बातें करना, यही हंसमुख श्रीकृष्णका नित्यका कार्य-क्रम था। रंगमहलमें उनकी जो मधुर मुसक्यान आनन्द छा देती थी वही रङ्गभूमिमें भी दिखायी देती थी। श्रीकृष्ण सर्वत्र एकरस थे। दुःखमें भी वे हंसते रहते थे। सुख और दुःख उनके लिये बराबर थे। नेपोलियनके विषयमें कहा जाता है कि वह रण-भूमिमें संग्राम होते रहनेकी हालतमें

भी तोपके पीछे लेट जाता और दो घण्टे नींद ले लेता था। नेपोलियनका जीवन ही युद्धजीवन था। युद्धमें सोना, युद्धमें ही खाना-पीना, युद्धमें ही सब काम करना—यही उसके जीवनका अभ्यास था, पर श्रीकृष्णमें नेपोलियनकी तरह निश्चिन्त होकर रण-भूमिमें लेटनेकी ही केवल सामर्थ्य नहीं थी, उनकी सामर्थ्य उससे कहीं अधिक अलौकिक थी। उनके चित्तमें चंचलताका कोई चिह्न ही नहीं था। नेपोलियनको नींद लेनेके लिये लेटना पड़ता था, पर श्रीकृष्णको उसकी भी जरूरत नहीं थी। वे न कभी थकते थे और न उन्हें कभी विश्राम लेनेकी आवश्यकता पड़ती थी। वे अहर्निश सब कामोंके सूत्र चलाते थे पर चिन्ता या दुःखका कोई चिह्न उनके चेहरेपर नहीं दिखायी देता था। वे हंसते ही रहते थे। उस हंसीमें बड़ी अद्भुत सामर्थ्य थी। घटोत्कचके मारे जानेपर पांडव-सेनामें शोक छा गया, पर श्रीकृष्ण हंसते थे और उस हंसीने पांडवोंका शोक भुला दिया। श्रीकृष्ण शूर थे, तेजस्वी थे, सुन्दर थे, सब गुणोंके आगर थे; पर सबसे बड़ी बात जो उनमें थी वह यह थी कि प्रकृतिके वे प्रभु थे। मदान्ध राजपुत्रोंकी आंखोंपर परदा पड़ा हुआ था और वे श्रीकृष्णकी योग-मायाको नहीं समझ पाते थे। श्रीकृष्णने जो धर्मराज्य स्थापित किया वह अपनी इसी दिव्य और अलौकिक लीलासे स्थापित किया।

श्रीकृष्णकी लीला जैसी दिव्य थी उस कालकी परिस्थिति भी उनकी उस दिव्य लीलाके लिये स्वभावतः ही अनुकूल थी।

यह एक महान् ऐतिहासिक तत्व है कि जिन लोगोंमें जैसे महान् पुरुष अवतीर्ण होते हैं वे लोग भी इतने योग्य होते हैं कि उन महान् विभूतियोंका आदर कर सकें और उनमें पृथक् पृथक् वे सब गुण होते हैं जिनका समुच्चय उन महान् विभूतियोंमें रहता है। श्रीरामचंद्रके समयमें वानरोंमें भी भगवद्भक्तिका प्रचार था। गुरु गोविन्दसिंहके समयमें सभी सिख वैसे ही वीर थे। श्रीशिवाजीके समयमें मराठोंमें भी वही धर्मश्रद्धा और शूरता थी। इसी त्रिकालाबाधित नियमके अनुसार श्रीकृष्णके समयमें भी जनतामें वे गुण मौजूद थे जिनका आत्यन्तिक उत्कर्ष समुच्चय-रूपसे श्रीकृष्णमें हुआ था। श्रीकृष्णके समयमें ही श्रीकृष्ण-द्वैपायन महर्षि वेदव्यास वर्त्तमान थे जिनका लिखा हुआ ग्रंथ पञ्चम वेद माना जाता है; श्रीकृष्णके गुरु सांदीपनी ऋषि जैसे तपस्वी, वसुदेव जैसे त्यागी, सुदामा जैसे ब्राह्मण, उद्धव जैसे भगवद्भक्त, युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, भीम जैसे पराक्रमी, अर्जुन जैसे वीर और धार्मिक, भीष्म जैसे मृत्युञ्जय, गांधारी जैसी पतिव्रता स्त्रियां, गोप जैसे सरल और श्रद्धालु लोग उसी समय वर्त्तमान थे; पर हम ऊपर कह आये हैं कि यद्यपि ऐसे ऐसे धार्मिक पुरुष मौजूद थे और जनतामें धर्म-भाव भी था, तथापि राज्यसूत्र जिनके हाथमें थे वे धर्मके विरोधी थे और इसीका यह परिणाम हुआ था कि धार्मिक जनोंका राज-काजी लोगोंसे बहुत ही कम संबंध रह गया था। यही नहीं, बल्कि धार्मिक लोग निवृत्ति-परायण हो रहे थे। निवृत्ति-परा-

यणता धार्मिक उन्नतिकी पराकाष्ठा है, पर उसमें यह दोष है कि जब धार्मिक लोग राजकाजसे अलग हो जाते हैं, तब राजकाजका कोई सिरधरू न रहनेसे राजाओं और राजपुत्रोंमें प्रवृत्ति इतनी प्रवल हो उठती है कि उनकी गति रोकी नहीं जा सकती और परिणाम यह होता है कि ऐसी धर्महीन राजनीतिसे प्रजा अत्यन्त दुःखित होती है। श्रीकृष्णके समयमें ऐसी ही अवस्था हुई थी और इसका प्रतिकार करनेका बहुत कुछ प्रयत्न भी हो रहा था, जैसा कि वसुदेवके चरित्रसे मालूम होता है। इन्हीं निवृत्ति-परायण लोगोंको हाथमें लेकर श्रीकृष्णने प्रवृत्ति-परायण राजपुत्रोंका संहार साधन किया और धर्म-राज्यकी स्थापना की।

यह केवल एक महान् राज्यक्रांति ही नहीं थी। फ्रांसकी राज्यक्रांति केवल राजकीय राज्यक्रांति थी, इंगलैंडकी राज्यक्रांति केवल आर्थिक राज्यक्रांति थी। फ्रांसकी राज्यक्रांतिसे मिली हुई स्वाधीनता रक्तकी नदियोंके साथ वह गयी, इंगलैंडकी राज्यक्रांतिने कोठीवालशाहीका साम्राज्य स्थापित किया; पर श्रीकृष्णने जो राज्यक्रांति की उसने आध्यात्मिक क्रांतिको और भारतवर्षको एक आदर्श राष्ट्र वना दिया।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि उस समय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी; स्त्रियोंमें पातिव्रत-धर्म पूर्णताके साथ वर्तमान था; पर चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था विगड़ रही थी और शूद्रों, वैश्यों तथा स्त्रियोंके संवंधमें लोगोंका ऐसा खयाल हो चला था कि इन्हें

मोक्षका अधिकार नहीं है। इसके साथ ही उपनिषदोंके गहन विचारोंके प्रचारसे धार्मिक पुरुषोंके अन्तःकरणपर यह दृढ़ संस्कार हो चुका था कि मोक्षका मार्ग संसारसे अलग होना ही है। श्रीकृष्णने इन विचारोंमें क्रांति की। भगवानकी बाललीला उन्हीं शूद्रों और वैश्योंमें हुई है। उन्होंने उन्हें अपना लिया और उनके सरल हृदयोंमें भक्ति-भावका संचार कर दिया। वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णके दर्शनके लिये गोपोंकी स्त्रियां दौड़ी जाती थीं और श्रीकृष्ण उन्हें भगवद्भक्तिका उपदेश देते थे। चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था उन्होंने अपने अधिकार-युक्त उपदेशसे फिरसे बांध दी और निवृत्ति-परायण पुरुषोंको उनके सांसारिक कर्तव्य और प्रवृत्ति-परायण पुरुषोंको पारलौकिक कर्तव्य बतलाये। सारे समाजको फिरसे संगठित कर दिया। श्रीकृष्णका सारा जीवन केवल संहारमें ही नहीं बीता; नित्य नये शत्रुओंसे सामना करना और उन्हें स्वर्गका रास्ता दिखा देना, यह जिस प्रकार उनका नित्य कार्यक्रम था उसी प्रकार धर्मका प्रचार करना, जिज्ञासुओंको वेदान्तके गूढ़ तत्त्व समझाना और भक्तोंको उपदेशामृतसे तृप्त करना भी उनका नित्य कार्य-क्रम था। उस समय उनके जोड़का जिस प्रकार कोई शूर-वीर योद्धा नहीं था, उसी प्रकार कोई वैसा धर्मविद् और धर्मोपदेशक भी नहीं था। श्रीकृष्ण धर्म-संस्थापक थे और उन्होंने धार्मिक क्रांति करके जिन धर्म-सिद्धांतोंकी स्थापना की है उन्हींका श्रीमद्भगवद्गीतामें समावेश हुआ है।

गीताकी सर्वमान्यता

पहले कहा गया है कि भगवान श्रीकृष्ण जगदुद्धारके लिये अवतीर्ण हुए थे और उन्होंने जगत्‌को धर्ममार्गकी शिक्षा दी। इसलिये उन्हें जगद्गुरु कहकर नमन भी किया है। इन जगद्गुरुके दर्शन करानेके लिये ही यहांतक गीताके वक्ता भगवान श्रीकृष्ण-चंद्रकी लीलाका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। इससे यह बात ध्यानमें आ गयी होगी कि श्रीकृष्ण भगवानने भिन्न भिन्न रूपोंसे भिन्न भिन्न प्रकारके लोगोंका उद्धार किया; दुष्टोंको दण्ड दिया, आततायियोंका शिरोच्छेद किया, अधर्मी राजाओंका संहार किया, गोपगोपियोंमें भक्तिका सञ्चार किया, जिज्ञासुओं-को ज्ञान दान किया, ज्ञानियोंकी शङ्काओंका समाधान किया, आर्तोंका दुःख दूर किया और सबको धर्ममार्गमें प्रवृत्त करके धर्मराज्य स्थापित किया। श्रीकृष्ण भगवानकी उस लीलाका तत्वज्ञान श्रीमद्भगवद्गीता है और श्रीमद्भगवद्गीताके उस ज्ञानकी यह श्रीकृष्णलीला कर्मरूप व्याख्या है।

यह गीताज्ञान और इसकी यह व्याख्या संसारसागरसे उद्धारका उपाय बतानेवाला दैवी संदेश है। समस्त वेदोंका यह सार है। भिन्न भिन्न उपनिषद्वचनोंका इसमें सार-समन्वय है और षड्दर्शनोंकी पूर्णता है। न्यायदर्शनके १६ पदार्थों-का तत्वज्ञान, वैशेषिकका द्रव्यगुणकर्मभेद, पूर्वमीमांसाका कर्मवाद; सांख्योंका पंग्वन्धन्याय प्रकृतिपुरुषभेद, पातञ्जलदर्शन-का योग, वेदान्तका ब्रह्मवाद, इन सबका समन्वय और विकास

गीतामें हुआ है। इसीलिये गीता सर्वश्रेष्ठ है। गीताके बाद कोई ऐसी दैवी वाणी नहीं सुनायी दी। इसीलिये जबसे गीताका उदय हुआ है तबसे गीता समस्त तत्व-प्रतिपादन, ज्ञान और धर्मोपदेशका आधार है।

बौद्धकालके पश्चात् भगवान शङ्कराचार्यको अद्वैतमत प्रस्थापित करनेके लिये तथा तत्पश्चात् अन्यान्य आचार्योंको अन्यान्य मत प्रस्थापित करनेके लिये श्रीमद्भगवद्गीतापर भाष्य लिखने पड़े। इससे यह मालूम होता है कि बौद्धकालमें भी गीताकी सर्वमान्यता लुप्त नहीं हुई थी, प्रत्युत उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रोंके साथ गीता भी सर्वमान्य थी। लोगोंका यह खयाल ठीक नहीं कि बुद्धभगवानने कोई वेदबाह्य धर्म स्थापित किया और वेदोंकी निन्दा की। बोधिसत्व वृक्षके नीचे पद्मासनासीन बुद्धदेवने भक्तोंको जो उपदेश दिया है उसमें सच्चे ब्राह्मणोंके लक्षण बतलाते हुए उन्होंने एक लक्षण यह भी बताया है कि वह वेदार्थ जाननेवाला हो। "धम्मपद" नामका जो बौद्धग्रंथ है जो बौद्धोंकी गीता ही समझिये, उसमें और श्रीमद्भगवद्गीतामें इतना सादृश्य है कि यह सम्भव नहीं मालूम होता कि जिस देशमें गीता प्रचलित हो—सर्वमान्य हो, उस देशमें गीताको विना देखे ही वह ग्रन्थ निर्माण हो गया हो। इससे यह मालूम होता है कि धम्मपदका आधार श्रीमद्भगवद्गीता ही है। काशीके बाबू भगवानदासने पं० धनराजसे सुनकर जो "प्रणववाद" प्रकाशित किया है उसमें पं० धनराजके कथनानुसार भगवान बुद्धदेव द्वारा रचित श्रीम-

द्भगवद्गीता-भाष्य तकका उल्लेख है। यह भाष्य इस समय उपलब्ध नहीं है, पर इससे यह बड़ी भारी बात मालूम होती है कि वैदिक धर्मकी यह बौद्ध शाखा श्रीमद्भगवद्गीतासे ही निकली है। बौद्धधर्म प्रचलित हो चुकनेपर भी, स्वयं बौद्ध भी श्रीमद्भगवद्गीताको अत्यन्त पूज्य दृष्टिसे देखते थे। यह बात लोकमान्य गीतारहस्यकार द्वारा निर्दिष्ट तारानाथकृत बौद्धधर्मके इतिहाससे स्पष्ट हो जाती है जिसमें यह लिखा है कि बौद्धोंका महायान पन्थ जिस राहुलभद्र नामक ब्राह्मणने चलाया उसने इसकी शिक्षा "श्रीकृष्ण"से पायी। तिब्बतके एक और ग्रन्थसे भी यही पता लगता है। यह "श्रीकृष्ण" भगवदवतार श्रीकृष्ण ही हैं और श्रीकृष्णसे शिक्षा पानेका अर्थ श्रीमद्भगवद्गीतासे ही शिक्षा पाना है। यही बात "सद्धर्म पुण्डरीक"के भाषांतरकार डा० कर्नने लिखी है और कहा है कि इसका अर्थ यही है कि महायानपन्थ श्रीमद्भगवद्गीताका बहुत कुछ ऋणी है। मतलब यह कि इस प्रकार कुरुक्षेत्रके धर्मयुद्धका यह धर्म्म संवाद तबसे बौद्धोंकी महायान शाखाके निकलनेतक अत्यन्त पूज्य दृष्टिसे देखा जाता था और फिर बौद्धोंका वास्तविक बुद्धधर्म उठ जानेपर भगवान श्रीशंकराचार्यने जो धर्मव्यवस्था स्थापित की उसका आधार प्रस्थानत्रय ही था, यह बात स्पष्ट ही है। इस प्रकार ५१०० वर्षसे यह ग्रन्थ इसी प्रकार सर्वमान्य रहा है और इस बीच जो धर्मसंप्रदाय निकले हैं उनका आधार भी प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूपसे यही

श्रीकृष्णार्जुनसंवाद रहा है, यह बात ईसाई धर्मकी पूर्व-पीठिकासे स्पष्ट हो जाती है। ऐतिहासिक अनुसन्धानोंसे यह बात अब प्रमाणित हो चुकी है कि ईसाई धर्म बौद्ध धर्मसे ही निकला है और नेपालके बौद्धमठके एक ग्रन्थमें (जो ग्रन्थ निकोलस नोटोविश नामक रूसी विद्वानने लिखा है उसमें) यहांतक वर्णन है कि ईसा हिन्दुस्थान आया था और यहीं उसे बौद्धधर्मका ज्ञान प्राप्त हुआ।

बौद्ध तथा ईसाई धर्ममें अहिंसा धर्मका जो प्राधान्य है वह भी नया नहीं है। उसका बीज श्रीमद्भगवद्गीतामें है और श्रीमद्भगवद्गीताके अहिंसा धर्मका प्रचार बौद्ध तथा ईसाई धर्मके द्वारा हुआ है। गीतामें जहां स्थितप्रज्ञ, भक्त अथवा दैवीसंपदके लक्षण बतलाये हैं वहां अहिंसाका भी उपदेश दिया है। अहिंसाका गीतादर्श—

"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः"

इन शब्दोंमें बड़ी ही सुन्दरताके साथ प्रकट किया गया है—"जो न दूसरोंको कष्ट देता है न स्वयं ही किसीसे कष्ट पाता है।" यही बात बौद्धधर्मग्रन्थ मुनिसुत्तमें—"अरोसनेय्यो न रोसेति"—इस प्रकारसे प्रगट की गयी है और कोई आश्चर्य नहीं यदि यह भाव भगवद्गीतासे ही लिया गया हो। स्वयं श्रीकृष्ण भगवानकी लीलामें—जिसे हमने श्रीमद्भगवद्गीताकी कर्मरूप व्याख्या कहा है—इस अहिंसाधर्मके प्रचारका कार्य हुआ है। भगवानने अपनी बाललीलामें ही ब्रजवासियोंको इन्द्रयज्ञ करनेसे

रोका और गिरियज्ञ करनेका उपदेश दिया था और रा० ब० चिन्तामण विनायक वैद्यका यह अनुमान है कि भारतवर्षमें गवालंभ श्रीकृष्ण भगवानने ही बन्द कराया । यह अनुमान भगवतीपुराणके भी एक प्रमाणसे पुष्ट होता है जहां एक स्थानमें गौके सम्बन्धमें यह उल्लेख है कि "सा बभूव पूज्या श्रीकृष्ण-स्याज्ञया" । इससे यह मालूम होता है कि श्रीकृष्ण भगवानने हिंसामूलक बातोंका निषेध किया था और यद्यपि धर्मयुद्धजन्य हिंसाका उन्होंने समर्थन किया है तथापि श्रीमद्भगवद्गीतामें ही उन्होंने स्वर्गकी इच्छासे किये जानेवाले कर्मोंका निषेध ही किया है। इतिहाससे यह भी मालूम होता है कि बुद्धदेवके पहलेसे ही यहां अहिंसाधर्मका प्रचार था जिसकी नींवपर बौद्धधर्मकी स्थापना हुई और फिर बौद्धोंके द्वारा इसकी शिक्षा अन्य देशवालोंको प्राप्त हुई।

इस प्रकार कुरुक्षेत्रके कौरव-पाण्डवयुद्धके समयसे लेकर अबतक यह ग्रन्थ संसारको परम उपकारी और दिव्य उपदेश दे रहा है। परन्तु अभी इसका कार्य समाप्त नहीं हुआ है, क्योंकि अभी इसका प्रचार संसारमें अप्रत्यक्ष रूपसे हुआ है। अब इसका प्रचार प्रत्यक्ष रूपसे आरम्भ हुआ है। संसारकी सब भाषाओंमें इसके भाषान्तर प्रकाशित हुए और हो रहे हैं । उनपर टीकाएं भी लिखी जा रही हैं और संसारके विद्वानोंको इस बातका अनुभव हो रहा है कि संसारके साहित्यमें यही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

कविश्रेष्ठ श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर महोदय जब अमेरिका गये थे तब वहां उन्होंने अमेरिकाकी आधुनिक विचारोन्नतिके जनक इमर्सनका पुस्तकालय देखा था। उस पुस्तकालयमें इमर्सन-की मेज रखी हुई है। उस मेजके ड्राअरमें एक बहुत बढ़िया जिल्दबंधी पुस्तक सुरक्षित है। यह पुस्तक लैटिन भाषामें है। जो सज्जन (शायद स्व० इमर्सन महोदयके पुत्र) कवींद्रजीको पुस्तकालय दिखला रहे थे उन्होंने बतलाया कि इमर्सन महोदय नित्य प्रातःकाल सबसे पहले इस पुस्तकका पाठ करते थे तब दूसरा कोई काम करते। कवि रवींद्रनाथने देखा कि पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका लैटिन भाषान्तर है।

टामस कार्लाइल यूरोपके एक अद्वितीय विद्वान और तत्व-वेत्ता हुए हैं। यूरोप और अमेरिकाके बड़े बड़े विद्वान बड़ी श्रद्धाके साथ इनके दर्शनोंके लिये जाया करते थे। इमर्सन भी इसी तरह इनके दर्शनार्थ गये थे। इनके सम्मानार्थ कार्लाइलने इन्हें जो पुस्तक भेंट की थी वह श्रीमद्भगवद्गीता थी। इटलीके कर्मयोगी और तत्ववेत्ता मैजिनीपर इस ग्रन्थका बड़ा प्रभाव पड़ा था। जर्मन फिलासफर शोपेनहारको इसके सामने और कोई पुस्तक जंचती ही नहीं थी और जिन इमर्सन महोदयका ऊपर उल्लेख हुआ है उनके गुरु थोरो श्रीमद्भगवद्गीताके कैसे परम भक्त थे यह उनके ही शब्दोंसे प्रकट हो जाता है। तत्ववेत्ता थोरोने लिखा है—

"मैं प्रतिदिन गीताके पवित्र जलमें स्नान करता हूं। वर्तमान

कालमें यह ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ है। जिस कालमें यह ग्रन्थ बना होगा वह कोई असाधारण काल होगा।"

इन बातोंसे यह पता लगता है कि इतिहासातीत कालमें गीताज्ञानका जो प्रचार संसारमें हुआ वह अप्रत्यक्ष रूपसे हुआ, पर अब प्रत्यक्ष रूपसे हो रहा है और सब देशोंके विद्वान और ज्ञानी गीताज्ञानका प्रचार करनेकी ओर झुक रहे हैं। इस संबंधमें बिहारके डा० सैयद महमूद नामक एक मुसलमान विद्वानके संबंधकी घटनाका उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा। डा० महमूद जर्मनीमें एक विद्वान जर्मन अध्यापकसे मिलने गये थे। भारतकी चर्चा चली और जर्मन अध्यापकने डा० सैयद महमूदसे पूछा कि आपने गीता तो पढी होगी। उत्तर सुनकर उस महामना अध्यापकको बहुत दुःख हुआ और उसने कहा—"गीता ऐसा ग्रन्थ है जिसे प्रत्येक मनुष्यको सहस्र बार पढ़ना चाहिये।"

ऐसा समय आ सकता है जब मानव जातिकी दृष्टि आधिभौतिक सुखवादके परे पहुंचे और इस समय संसारके सब राष्ट्रोंमें परस्पर सम्मेलनकी जो प्रवृत्ति दिखायी दे रही है उसका पर्यवसान गीताज्ञानकी अटल आध्यात्मिक भित्तिपर मानव-समाजकी नवीन रचनाकी सिद्धिमें हो। श्रीमद्भगवद्गीतामें यह शक्ति है—समस्त धर्मसंप्रदायोंका उसमें समावेश हो जाता है; क्योंकि गीता सांप्रदायिकताके परे जो महान् सत्य है उसीका प्रकाश है।

गीताशक्तिका रहस्य।

श्रीमद्भगवद्गीता युद्धके प्रसंगपर कही गयी है, उस मनुष्यसे

कही गयी है जो अपने समयका आदर्श पुरुष था और साक्षात् षोडश-कलापूर्ण ईश्वरावतार भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने कही है, यही इस गीताशक्तिका रहस्य है। गीताके श्लोकोंकी रचना स्वयं श्रीकृष्णभगवानने न की होगी, पर इसका आधारभूत ज्ञान और वाणी उन्हींकी है। श्लोकरचना भगवान वेदव्यासने की होगी जिन्हें ईश्वरके पंचमकलापूर्ण ईश्वरावतार मानते हैं। वेदव्यासका त्रिकालज्ञान भी इस प्रकार इस रचनाके मूलमें है, इसलिये इस रचनामें अलौकिक आकर्षणशक्ति है। गीताशक्तिका रहस्य जाननेके लिये यह समझना होगा कि शक्ति शब्दोंमें या शब्दरचनाकौशलमें नहीं होती—शक्ति हृदयमें होती है और जिन शब्दों द्वारा वह प्रकट होती है उन्हीं शब्दोंमें आकर्षणशक्ति होती है। शक्ति तर्कमें नहीं है, बुद्धिमें नहीं है, शक्ति हृदयाकाशमें है जहां वैकुण्ठवासी विष्णु भगवान विराजते हैं। हृदयकी वाणी ही शक्ति है। गीता ज्ञानोज्ज्वल हृदयकी वाणी है। वह ज्ञान श्रुत ज्ञान नहीं है—श्रुत और श्रोतव्यके परे जो स्वतःसिद्ध ज्ञान है—स्वानुभूत ज्ञान है उसीका प्रकाश है। तर्कसे उस ज्ञानतक कोई नहीं पहुंचता; पर वह ज्ञान सबको अपनी तरफ खींच लेता है। गीताके प्रत्येक श्लोकमें जो अद्भुत मंत्रशक्ति है उसका यही रहस्य है।

गीताके अधिकारी।

सुप्रसिद्ध फ्रेंच उपन्यासकार विक्टर ह्यूगोने अपने एक प्रसिद्ध उपन्यासकी भूमिकामें लिखा है कि जबतक यह संसार

जो नरकके समान भीषण है, स्वर्ग नहीं हो जाता, तबतक मेरे इस ग्रन्थकी आवश्यकता बनी रहेगी। विकृर ह्यूगोके ग्रन्थकी आवश्यकता बनी रहे या न रहे, पर इसमें संदेह नहीं कि जबतक संसार दुखी रहेगा तबतक उस दुःखसागरसे छुड़ानेके लिये गीताकी आवश्यकता रहेगी।

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं याति सुखेन सः ॥

"जो कोई इस संसारसागरको पार करना चाहता हो वह इस गीतारूपी नौकामें बैठकर आनन्दसे उस पार पहुंच सकता है।" इसलिये गीताके अधिकारी वे ही हैं जो इस संसारके दुःखसे दुखी हैं और सुखकी तलाशमें हैं। परन्तु दुःख क्या है और सुख क्या है, इसकी ठीक ठीक कल्पना जिसको नहीं हुई है वह गीताज्ञानका अधिकारी नहीं है। इसका मतलब यह है कि जो चित्त विषयसुखमें फंसा हुआ है और जो विषयसुखको ही सुख समझता है वह अधिकारी नहीं है जो ऐसा अधिकारी नहीं है पर श्रद्धावान है वह भी गीतापाठसे अपना कल्याण साधन कर सकता है। परन्तु जो ईश्वरकी वाणीका आदर नहीं करते और इसलिये उसको ग्रहण नहीं कर सकते श्रीमद्भगवद्गीतामें ही ऐसे लोगोंको यह धर्म्म संवाद सुनानेका निषेध किया है। इस प्रकार गीताके अधिकारी वे ही हैं जो विषयोंके बन्धनोंसे छूटकर अक्षय सुखकी प्राप्तिमें प्रयत्नशील हैं। ऐसे लोग ही गीता समझ भी सकते हैं। हृदयकी बात हृदय ही समझ सकता है—ज्ञानका प्रकाश जिज्ञासुको ही दिखायी देता है।

गीताका उपदेश

संसार दुःखमय है। दुःख अज्ञानजनित है। उस अज्ञानका नाश करना ही सुख है। इसीको मोक्ष कहते हैं। दुःखमय संसारमें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। अज्ञानका नाश ज्ञानसे होता है और ज्ञान यही है कि यह संसार क्या है और हम कौन हैं, यह मालूम हो जाय। जिस शास्त्रमें इसका विचार किया जाता है उसे मोक्षशास्त्र कहते हैं और वेदान्तकी परिभाषामें उसीको ब्रह्मविद्या कहते हैं। समस्त संसार जिस शक्तिके सहारे ठहरा हुआ है, जिससे सारे पदार्थोंकी स्थिति और गति है वह शक्ति ब्रह्म है। इसलिये गीता ब्रह्मविद्या है और इसका हेतु उसी ब्रह्मसे जीवका संयोग कराना है, इसलिये इसे योगशास्त्र कहते हैं। वह संयोग ज्ञानसे होता है।

वह ज्ञान क्या है ? शरीर मिथ्या है और आत्मा सत्य और अमर है। शरीर मिथ्या है, याने वह है ही नहीं, यह बात नहीं। मिथ्या है याने जैसा सब लोग उसे समझते हैं वैसा वह नहीं है। हम किसी मनुष्यको देखते हैं तो उसके शरीरको ही हम पुरुष समझते हैं। पर यह बात नहीं है, शरीर तो उसका रूप मात्र है। वह शरीरसे भिन्न कोई अलौकिक पुरुष है। शरीर उसका बदलता रहता है; पर वह ज्योंका त्यों रहता है। शरीरकी मृत्युसे उसकी मृत्यु नहीं होती। वह अमर है—उसका जीवन अनन्त है। मनुष्यको जो सुख दुःख होता है वह विषयेन्द्रियसंयोगसे होता है और मनुष्य अपने वास्तविक आत्म-

रूपके अज्ञानसे उस सुखदुःखसे सुखी या दुखी हुआ करता है। पर जो मनुष्य आत्मरूप पहचान लेता है वह विषयेन्द्रिय संयोगसे सुखी या दुखी नहीं हुआ करता। वह आत्मरूपके अखंड आनन्दमें ही रहता है।

इस अखंड आनन्दकी प्राप्तिके लिये विषयोंके बन्धनोंसे मुक्त होना पड़ता है। यह मुक्ति वैराग्यसे प्राप्त होती है। वैराग्य अभ्याससे सिद्ध होता है। परन्तु यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और उसका उपाय वैराग्य है तो सब प्रकारके विषयोंसे दूर रहना ही अच्छा है। कारण विषयोंमें रहनेसे विषयोंका बन्धन होता है। मनुष्यके जितने भी कर्म हैं वे सब इन्द्रिय और विषयके संयोगसे होते हैं और जब इन विषयोंसे छूटना है तो साधककी सबसे श्रेष्ठ अवस्था यही है कि वह कर्ममात्रको ही त्याग दे—अन्यथा वैराग्य कैसे हो सकता है? परंतु यह विचारपद्धति ठीक नहीं है क्योंकि कर्मत्याग सम्भव ही नहीं है। खाना पीना, मलमूत्र विसर्जन करना, उठना बैठना, सोचना समझना ये सब भी तो कर्म ही हैं; पर इन कर्मोंको छोड़कर कोई कैसे रह सकता है? इसलिये वैराग्यका उपाय कर्मत्याग तो नहीं है। पर कर्मसङ्ग भी वैराग्यका उपाय नहीं है।

वैराग्य

संसारसे दुखी या उदास होकर निराशासे दीन वदनसे

भिक्षाटन करना वैराग्य नहीं है। वैराग्यमें दुःख नहीं है, उदासी नहीं है, निराशा नहीं है, दीनता नहीं है और याचना भी नहीं है। ये चिह्न वैराग्यके नहीं, घोर विषयाशक्तिके हैं। वैराग्य ज्ञानसे उत्पन्न होता है और साधनासे सधता है। वैराग्यका सम्बन्ध मनुष्यके किसी बाहरी कार्यसे नहीं बल्कि चित्तवृत्तिसे है। विषयोंमें चित्तका न फंसना ही वैराग्य है और इसके विपरीत जो है वह रागद्वेष है जो चित्तके विषयोंमें भटकनेका दूसरा नाम है। रागद्वेष विषयोंके प्रति इन्द्रियोंका धर्म है, पर इन्द्रियां पुरुष नहीं हैं। जो जीव अज्ञानवश इन्द्रियोंके अधीन हो जाता है वही रागद्वेषके अधीन होता है। जिसका मन काबूमें नहीं है उसको रागद्वेषजनित सुखदुःख होता है। कर्म तो नहीं छूटता, क्योंकि संसारका धर्म ही कर्म है; और जीवको तो विषयोंके बन्धनोंसे छूटना है। परन्तु मनुष्य जब कोई कर्म करता है तो वह किसी न किसी इच्छासे ही प्रेरित होकर करता है और यह इच्छा जब पूरी होती है तो उसे सुख होता है और जब पूरी नहीं होती तब उसे दुःख होता है। इस प्रकार कर्मके फलसे मनुष्यको सुखदुःख हुआ ही करता है। इसलिये यदि कर्म ही मनुष्य छोड़ दे तो न उसको प्रेरक इच्छा ही रहेगी, न उसके फलसे रागद्वेष या सुखदुःख ही होगा। परन्तु यह विचारपद्धति भी ठीक नहीं है; क्योंकि एक तो कर्म छूटता ही नहीं और दूसरे कर्मफलकी इच्छाके बिना भी कर्म किया जा सकता है।

निष्काम कर्म

ऐसे कर्मको निष्काम कर्म कहते हैं। परन्तु निष्काम कर्मका अर्थ यह नहीं है कि बेमतलब कोई काम करना। निष्काम कर्मका अर्थ यह है कि प्रापञ्चिक सुखसाधन अथवा ऐहिक विषयोपभोगके लिये नहीं प्रत्युत ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करना--यह जानकर कि यह देह, ये इन्द्रियां, यह मन मैं नहीं हूं: जो बुद्धि यह सब सोच रही है वह भी मैं नहीं हूं, मैं उसके परे हूं और ये सब ईश्वरोपासनाके उपकरण हैं—यह जानकर—जगतके कल्याणके लिये, जगतको कुपथसे सुपथपर लानेका उद्योग करना (यह जानकर कि यही ईश्वरका अभिप्राय है) और इस उद्योगमें अहंकारका भाव न घुसने देना, यह सारा उद्योग ईश्वरको अर्पण कर देना ही निष्काम कर्म है। इसीको कर्मयोग कहते हैं और—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥ (गीता)

इस प्रकार "जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ, जो इस सारे जगत्में व्याप्त है उसकी स्वकर्म द्वारा जो उपासना करता है वह सिद्धिको प्राप्त होता है।"

परन्तु यदि मोक्षलाभ ही परम पुरुषार्थ है और वह बुद्धिके परेका स्वतःसिद्ध ज्ञान है तो एकान्त स्थलमें उसी ज्ञानस्वरूप आनन्दघन परमात्माका ध्यान करनेसे ही सब कुछ हो गया; उसके लिये निष्काम कर्म, जगत् कल्याण इत्यादि प्रपञ्चकी

क्या आवश्यकता है ? परन्तु यह प्रपञ्च ईश्वरका है। इसको कोई क्या करे ! यह लीला भगवानकी है, हमारी आपकी नहीं। भगवानने क्यों यह प्रपञ्च रचा, मालूम नहीं। हम तो इस अलौकिक लीलाके रङ्गमञ्चपर नटके समान हैं, सूत्रधार तो कोई और है ; हमें केवल उसकी आज्ञाका पालन करना है। उसने यह सृष्टि रची, वही यह सृष्टिचक्र घुमा रहा है और हम घूम रहे हैं। इस प्रपंचका उद्देश्य हमें मालूम नहीं है पर यह तो मालूम है कि जिस ईश्वरकी प्राप्तिके लिये हम सब तरस रहे हैं उसी ईश्वरका यह खेल है और गीता कहती है कि यह खेल तुम्हें भी खेलना होगा। ईश्वरने जो यज्ञचक्र निर्माण किया है उस चक्रके पीछे पीछे चलकर हमें भी आहुति देते जाना होगा। यही तो भगवानने कहा है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिंद्रियारामो: मोघं पार्थ स जीवति ॥ (गीता)

निष्काम कर्मका अर्थ यही यज्ञकर्म है और इसका हेतु इस यज्ञ-चक्रके पीछे पीछे चलकर ईश्वरको प्राप्त करना है।

एकान्त स्थलमें बैठकर ज्ञानस्वरूप आनंदघन परमात्माका ध्यान तो करना ही होगा और ध्यान करते करते ध्यानमग्न भी होना होगा, अपने आपको अपने अन्दर देखना होगा। इसके

विना निष्काम कर्म संभव ही नहीं है। हम कौन हैं, यह जगत् क्या है, यह जाने विना निष्काम कर्म हो ही नहीं सकता। ज्ञान-युक्त कर्म ही निष्काम कर्म है, पर वह आवश्यक है—जबतक ज्ञान पूर्ण रूपसे सिद्ध नहीं हुआ है, चित्तके सारे विकार दूर नहीं हुए हैं, तबतक चित्तशुद्धिके लिये वह आवश्यक है और ज्ञान सिद्ध होनेपरकी तो बात ही दूसरी है। पर ज्ञान सिद्ध होने-पर क्या कोई कर्तव्य नहीं रहता? यदि नहीं रहता तो ज्ञानकी अवस्थामें जो सत्य है वह अज्ञानकी अवस्थामें भी मानकर उसीके अनुकूल आचरण करना चाहिये। यदि ज्ञान सिद्ध होनेपर कोई कर्म नहीं है तो इस समय भी कोई कर्म आवश्यक नहीं है। यह सत्य है कि "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" सब कर्मोंका अन्त हो जाता है; क्योंकि ज्ञान ही सब कर्मोंका लक्ष्य है। पर कर्म भी ज्ञानसे ही उत्पन्न होते हैं। यह सारी सृष्टि ज्ञानघन परमात्माकी सत्तासे ही उत्पन्न हुई है। सृष्टिके इस यज्ञचक्रको चलानेवाला ज्ञान ही है। इसलिये ज्ञानमें सब कर्मोंका अन्त नहीं होता—ज्ञान सिद्धिके हेतुसे किये जानेवाले कर्मोंका अन्त होता है—ज्ञानोत्तर कर्मोंका नहीं। ज्ञान सिद्ध होनेपर सायुज्यमुक्ति लाभ होती है—भक्त भगवानमें मिल जाता है पर भगवान कर्म करते रहते हैं।

दिव्य कर्म

ज्ञानोत्तर कर्मको दिव्य कर्म कहते हैं—"जन्म कर्म च मे दिव्यं।" यह दिव्य जन्मकर्म क्या है? हम आप जन्म ग्रहण

करते हैं, नानाविध कर्म करते हैं; पर यह नहीं मालूम रहता कि जन्मके पूर्व हम कहां थे, मृत्युके बाद हम कहां जायंगे, हम जो कुछ कर्म कर रहे हैं उसका फलदाता कौन है, यह जगत् क्या है और हमारी गति क्या होनेवाली है, कल क्या होनेवाला है यह भी नहीं जानते। मालूम होता है, हम एक ऐसे कारागारमें पड़े हुए हैं जहां हमारा कुछ भी बस नहीं चलता। हम चाहते हैं कि यह कड़ाकेकी धूप शांत हो और जल बरसे; हम चाहते हैं यह दरिद्रता दूर हो और धन सम्पत्ति हाथ लगे; हम चाहते हैं अमुक कार्य हो और अमुक न हो; परन्तु

अपने मन कछु और है, धाताके मन और।
ऊधोसे माधो कहैं, झूठी मनकी दौर॥

कुछ पता ही नहीं लगता है। कारागारमें पड़े कैदीके समान हम देख रहे हैं कि सामने क्या हो रहा है! पर उसपर हमारा कुछ भी बस नहीं है। यह प्राकृत जन्मकर्म है—प्रकृतिके हम वशमें हैं और प्रकृति जिधर ले जाती है हम उधर जाते हैं। प्रकृतिकी यह अधीनता ही प्राकृत जन्मकर्म है। इसके विपरीत जो है वही दिव्य जन्मकर्म है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ (गीता)

"मैं अजन्मा हूं, अव्यय हूं, सब प्राणियोंका ईश्वर हूं और अपनी प्रकृतिको वशमें रखकर अपनी मायासे मैं जन्म ग्रहण करता हूं।"

जितने कर्म होते हैं सब प्रकृतिके तीनों गुणोंसे ही होते हैं। आत्मा अकर्ता है—ज्ञानस्वरूप और आनन्दघन है। पर वह उस परमात्माकी ही शक्ति है जो प्रकृति कहाती है जिसके तीनों गुणोंसे यह संसार फैला हुआ है। उसी शक्तिको योगमाया कहते हैं। प्रकृति और पुरुष भिन्न भिन्न हैं, पर इन दोनोंके संयोगसे सृष्टि होती है और यह संयोग करानेवाली शक्ति ही योगमाया है। प्रकृति भी अनादि है, पुरुष भी अनादि है: एक जड़ है और दूसरा चैतन्य। इन्हींको सदसत् कहते हैं। इनकी उत्पत्ति उस परमात्मासे ही है जो सदसतके परे है पर सदसत् जिससे पृथक् नहीं है। जड़की गतिरूप चैतन्य ही पुरुष है। यह जबतक जड़के अधीन रहता है तबतक वह प्राकृत या जीव कहाता है। पर जीव जब प्रकृतिको देख लेता है तब वह मुक्त हो जाता है—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥(सांख्यकारिका ६१)

"प्रकृतिसे अधिक लज्जावती और कोई वस्तु नहीं है। उसे जब यह ख्याल हो जाता है कि पुरुषने मुझे देख लिया तब इस ख्यालसे वह पुरुषके सामने ही नहीं आती।" अर्थात् प्रकृतिका बन्धन कट जाता है। यही ज्ञानसिद्धि है। और भगवान बतलाते हैं कि तब वह पुरुष पुरुषोत्तममें मिल जाता है और पुरुषोत्तम रूपसे वह जो कर्म करता है वह प्रकृतिके वशमें होकर नहीं, प्रकृतिको अपने वशमें करके करता है। यही तो पुरुष

और पुरुषोत्तममें भेद है। पुरुषोत्तमकी प्राप्ति पुरुषोत्तमकी स्वकर्म द्वारा उपासना करनेसे ही होती है और प्राप्ति होनेपर दिव्य जन्मकर्मका आरम्भ होता है। यह समग्र संसार उसी पुरुषोत्तमका दिव्य जन्मकर्म है। दिव्य जन्मकर्मको ही लीला कहते हैं। ज्ञानी पुरुषोंके कर्म ऐसे ही दिव्य, अलौकिक या लीलात्मक होते हैं। ज्ञानके साधकोंको भी ज्ञानप्राप्तिके लिये इन्हीं दिव्य कर्मोंमें ईश्वरप्रीत्यर्थ सम्मिलित होनेका उपदेश है।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।

कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

"जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष कर्मके फलमें अटककर (प्रकृतिकी अधीनतामें) कर्म करते हैं उसी प्रकार ज्ञानियोंको चाहिये कि वे कर्मफलकी अटकसे निकलकर (प्रकृतिसे स्वाधीन होकर) लोकसंग्रहकी इच्छासे कर्म करें।"

लोकसंग्रह

संसारका जिससे कल्याण हो; देवलोक, पितृलोक आदि लोकोंकी जिससे तृप्ति हो; धर्म का जिसमें प्रचार हो; जन समूह जिससे धर्ममार्गसे च्युत न हो और हुआ हो तो फिर धर्मपथपर आ जाय—यही लोकसंग्रह है। यही यज्ञ है। यही निष्काम कर्म है। यही कर्मयोग है। पर कर्मयोगका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानकी कोई आवश्यकता नहीं अथवा ईश्वरभक्तिका कुछ काम नहीं, बस कर्म किये जाओ। ज्ञानके बिना जो कर्म है वह कर्म-

योग नहीं है। योग ईश्वरसंयोग है और ईश्वरकी ओर चित्त-का लगा रहना, सृष्टिके रहस्यके ज्ञानका होना, इस योगके लिये सबसे पहले आवश्यक है। यदि हमें यह मालूम ही न हो कि यह जगत् क्या है, ईश्वर कौन है और हमारा उसका क्या संबंध है तो कर्मयोग सम्भव ही नहीं है। कर्मयोग और ज्ञान-योग दोनों एक हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पंडिताः ॥ (*गीता*)

योगमार्गमें सर्वप्रथम वह समबुद्धित्व होना चाहिये जिससे सुखदुःखादि द्वंद्व समान मालूम हो। यह समत्वबुद्धियोग ही योग है। यह ज्ञानसे ही सिद्ध होता है और ज्ञान भी उस ज्ञानके अनुसार कर्म करनेसे सिद्ध होता है। हमें मालूम है कि "चांडाल,कुत्ता और ब्राह्मण" सभी उस परमात्माकी विभूति हैं और इसी दृष्टिसे सबको देखना चाहिये। पर चित्तकी वृत्ति तो ऐसी नहीं है। इसलिये यह मालूम होने पर भी मालूम नहीं है। ज्ञान होनेपर भी यह स्थानुकरण ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान कर्म-से ही सिद्ध होता है। इस प्रकार ज्ञानयोग और कर्मयोगका अन्योन्याश्रय है।

ज्ञान कर्म और भक्ति

ज्ञानके आधारपर कर्म और कर्मसे ज्ञान तो हुआ। परन्तु पुरुष और प्रकृतिके बीचका ही यह मार्ग है। इसमें कभी कर्म प्रबल होगा और ज्ञानको दबा देगा—

प्रकृति प्रबल होकर जीवको कसकर बांधेगी, और कभी पुरुष प्रबल होकर प्रकृतिको दबा देगा। ऐसी अवस्थामें इस झगड़ेका निर्णय कौन करेगा? भगवान शिवके वक्षस्थलपर भी महाकाली नरमुण्डमाल गलेमें धारण किये पैशाचिक नृत्य किया करती है। शिवभगवानको भी चित्त गिरानेकी शक्ति प्रकृतिमें है। इसलिये किसी ऐसी शक्तिकी शरण लेनी चाहिये जिससे कर्म ज्ञानके वशमें रहे—प्रकृति पुरुषके अधीन रहे और पुरुष उत्तम पदको प्राप्त हो। वह शक्ति है अनन्य भक्ति। परमात्माकी अनन्य भक्तिके बिना समत्वबुद्धियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा कोई भी योग सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञानके लिये, ज्ञानयुक्त कर्मके लिये, ईश्वरप्राप्तिके लिये दिव्य जन्मकर्मके लिये सबसे पहले और सदा सर्वकाल यदि कोई वस्तु आवश्यक है तो वह चित्तकी दृढ़ता है जो चित्तको भगवानके चरणोंमें लगाये रहे। इसके बिना ध्यान नहीं हो सकता, ध्यानके बिना अभ्यास नहीं हो सकता, अभ्यासके बिना वैराग्य नहीं हो सकता, वैराग्यके बिना विषयोंके बन्धन नहीं छूट सकते, इसके बिना मुक्ति नहीं मिल सकती, मुक्तिके बिना पुरुषोत्तम पद लाभ नहीं हो सकता, इसलिये "एकभक्तिर्विशिष्यते—अनन्य भक्ति ही श्रेष्ठ है।"

भक्ति ही संसारसागरसे प्रस्थान है, भक्ति ही नौका है, भक्ति ही केवट है, भक्ति ही दिशादर्शक यंत्र है और भक्ति ही प्रथ भक्ति—मुक्ति है। भक्तके हृदयमें ही ज्ञानालोक होता है और ज्ञान

ही वेद और वेदातीत ब्रह्म है। इसलिये भगवानने कहा है:—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"दुखी मत हो, कर्तव्याकर्तव्यकी सारी बातें छोड़कर (पहले) मेरी शरणमें आ जाओ; मैं तुम्हें सब पापोंसे (अथवा दुःखोंसे) मुक्त करूंगा।"

भगवानने बारहवें अध्यायमें भक्तके जो लक्षण बतलाये हैं वे स्मरण रखने योग्य हैं- "किसीसे द्वेष न करना, प्राणिमात्रसे मित्रताका व्यवहार करना, कृपालु रहना, ममत्व और अहंकार न रखना, सुखदुःखमें समान रहना, सदा संतुष्ट संयमी और दृढ़निश्चयी रहना, मन और बुद्धिको ईश्वरार्पण कर देना, किसीको दुःख न देना और न किसीसे दुखी होना, हर्ष क्रोध भय विषादसे अलग रहना, निरपेक्ष पवित्र और दक्ष रहना, उदासीन अविचल और निस्पृह रहना, रागद्वेषसे मुक्त रहना, शुभाशुभ फलोंको परित्याग करना, शत्रुमित्र मानापमान सरदीगरमी सुखदुःख निन्दास्तुति समान मानना, मित भाषण करना, जो कुछ मिले उसीसे संतुष्ट रहना, घरबारको सहारा न समझना और सर्वस्व ईश्वरको अर्पण कर श्रद्धाके साथ इस अमृततुल्य धर्मको आचरण करना।" सोलहवें अध्यायमें दैवी संपत्ति या सात्विक पुरुषके लक्षण भी ये ही बताये हैं और दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञकी अवस्थाका भी

ऐसा ही वर्णन किया है। ११वें अध्यायका विश्वरूपदर्शन, १०वें का विभुतिदर्शन, ७वेंका ज्ञानविज्ञानयोग और १३वेंका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग इत्यादिमें कथित ज्ञानका इन लक्षणोंमें अन्तर्भाव हो जाता है।

यहांतक जो वर्णन किया गया वह गीताकी महिमाके विचारसे बहुत ही अपूर्ण है। यह आगे चलकर जिस दिव्य संवादका पाठ करना है, उसके लिये 'विषयप्रवेश' का भी काम देगा या नहीं, इसमें संदेह है। कारण इस अथाह सागरमें असंख्य रत्न हैं। जो जितने गहरे पानीमें बैठकर ध्यान जमावेगा उसके हृदयमें उतना ही अधिक प्रकाश होगा। यहां उसे दिव्य बुद्धिके विलासका अनुपम चित्र दिखायी दे सकता है, सब तीर्थोंमें स्नान और सब देवताओं, ऋषियों और पितरोंके दर्शन हो सकते हैं और जो उतने भाग्यवान् हैं उन्हें परब्रह्म परमेश्वरके भी दर्शन हो सकते हैं।

श्रीवाराहपुराणमें धराविष्णुसंवादमें गीताका यह जो माहात्म्य वर्णन किया है उसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है।

गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठःप्रवर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै ॥
सर्वेदेवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ।
गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदैः ॥
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ॥

(जहां गीताकी पोथी है, जहां गीतापाठ हो रहा है वहीं प्रयागादि सब तीर्थ मौजूद हैं। सब देवता, ऋषि, योगी, पन्नग, गोप, गोपी, नारद, उद्धवादि वहां सहायक होते हैं जहां गीता होती है।)

स्वयं विष्णु भगवान कहते हैं—

यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम्।

तत्राहं निश्चितं पृथ्वि निवसामि सदैव हि॥

(जहां गीताका विचार, पठन, पाठन और श्रवण होता है वहां हे पृथ्वी! मैं सदैव वास करता हूं।)

परन्तु इस पठन, पाठन और श्रवणका अर्थ गीताज्ञानके अनुसार आचरण है। ऐसे आचरणसे ही गीताज्ञानकी उपलब्धि होती है।

॥ अथ ध्यानम् ॥

ओं पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयम् ।
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीम् ।
अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीतां भवद्वेषिणीम् ॥

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविंदायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

वसुदेवसुतं देवं, कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानंदं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला । अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी सोत्तीर्णा खलु पांडवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥ पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगंधोत्कटं

नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम्। लोके
सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा भूयाद् भारतपंकजं कलि-
मलप्रध्वंसि नः श्रेयसे॥

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः
वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यंति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता ।

प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

पहला अध्याय

अर्जुन-विषाद-योग

[आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने अपने सखा और भक्त अर्जुनको यह उपदेश (जिसे श्रीमद्भगवद्गीता कहते हैं) किस अवसरपर दिया, यह बताना ही इस अध्यायका हेतु है । इसमें 'अर्जुन-विषाद-योगका' वर्णन है । श्रीमद्भगवद्गीता योगशास्त्र है, इसलिये इसके प्रत्येक प्रकरणका नाम 'योग' ही है और इस अध्यायमें जिस प्रसंगका वर्णन है वह पहला योग (घटनाओंका संयोग) है जिसपर एक समग्र योगशास्त्र रचा गया है ।

प्रसंग यह है कि धर्मराज्यकी संस्थापनाके लिये कुरुक्षेत्रकी रक्तकी प्यासी रणभूमिमें कौरव सेनाका संहार करानेके लिये श्रीकृष्ण पांडव और पांडवोंकी सेनाके साथ खड़े हैं। श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध नहीं करेंगे; पर युद्धके सूत्रधार वही बने रहेंगे और सबसे युद्ध करावेंगे। धर्मराज्यकी संस्थापना ही इस युद्धका उद्देश्य है। दोनों सेनाएं युद्धके लिये तैयार होकर खड़ी हैं। धृतराष्ट्र, जो अन्धे हैं, घरपर बैठे बैठे 'दिव्यदृष्टि प्राप्त'-संजयसे युद्धका समाचार पूछते हैं और संजय उसका उत्तर देते हैं। धृतराष्ट्र और संजयके संवादके साथ यह अध्याय आरम्भ होता है और फिर इसी संवादके भीतर श्रीकृष्ण और अर्जुनका वह संवाद है जिसका नाम श्रीमद्भगवद्गीता है। युद्ध आरम्भ होनेके पूर्व अर्जुन वीरताके साथ दोनों सेनाओंके बीचमें यह देखने जाता है कि देखूं तो सही कि कौन कौन योद्धा मुझसे लड़नेके लिये आये हैं। पर वहां अपने ही आप्तजनों और भाइयोंको देखकर अर्जुन इस सोचमें डूब जाता है कि यह युद्ध क्या है, अपने ही भाइयों और गुरुजनोंका अपने ही हाथसे संहार करना है। धर्मराज्यका उद्देश्य भूलकर वह शोक और मोहके वशीभूत हो जाता है। इस शोक और मोहको दूर करनेके लिये श्रीमद्भगवद्गीताका अवतार हुआ है—शोक और मोहको दूर करना इसका हेतु है और इसलिये सर्व प्रथम इस अध्यायमें अर्जुनको विषाद कैसे हुआ इसीका वर्णन है]

(१) धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा—हे संजय! मेरे पुत्रोंने और पांडवोंने धर्मभूमि[१] कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे इकट्ठे होकर क्या किया?

१—कुरुक्षेत्र हस्तिनापुरके आस पासके मैदानका नाम है। वर्तमान दिल्लीनगर इसी मैदानमें स्थित है। कौरव पांडवोंके पूर्वज कुरु नामक राजाने इस मैदानमें बड़ी

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

(२) संजयने कहा—राजा दुर्योधनने पांडवोंकी सेनाका[1] व्यूह देखा और गुरु द्रोणाचार्यके पास जाकर कहा—

(३) गुरुजी महाराज ! आपके बुद्धिमान शिष्य धृष्टद्युम्नने पांडवोंकी इस महती सेनाकी मोर्चेबन्दी की है। इसे देखिये।

(४-६) इस सेनामें बड़े बड़े शूर और महा धनुर्द्धर, युद्धमें भीम और अर्जुनसे टक्कर लेनेवाले सात्यकि, विराट, महारथी

तपस्या की थी। इन्द्रने कुरुपर प्रसन्न होकर उन्हें यह वर दिया कि इस क्षेत्रमें जो लोग तप करेंगे या युद्धमें मारे जायंगे वे स्वर्ग सिधारेंगे। (महाभारत शल्य पर्व ५३) इस कारणसे इसे धर्मक्षेत्र या पुण्यभूमि कहने लगे। इसी स्थानमें परशुरामने इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार करके पितृतर्पण किया था। इधर अर्वाचीन कालमें भी यहां बड़ी बड़ी लड़ाइयां हुई हैं।

१—कौरव सेनाका व्यूह भीष्मजी रच चुके तब पांडवोंने अपनी सेना कम थी इसलिये अपनी सेनाका वज्र नामक व्यूह रचा था। (म० भा० भीष्म पर्व १९-४७) फिर रोज रोज वे व्यूह बदलते थे।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव[1] च ॥८॥

द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान काशीराज, पुरुजित्[2], कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान उत्तमौजा, अभिमन्यु और द्रौपदीके पांचों बेटे, ये सभी महारथी[3] उपस्थित हैं।

(७) और अब, हे द्विजोत्तम ! हम लोगोंके भी सेनापतियों और शूर सरदारोंका हाल सुनिये। मैं उनके नाम भी आपको सुनाये देता हूं।

(८) (सबसे पहले तो) आप हैं; (फिर) भीष्म, कर्ण, रणजीत कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण और भूरिश्रवा ये सब बड़े लड़ाके वीर हैं।

१—पाठभेद—जयद्रथः ।

२—पुरुजित् और कुन्तिभोज ये दो अलग अलग नाम नहीं हैं—एक ही नाम है। कुन्तिभोज नामक जिस राजाको कुन्ती दत्तक दी गई थी, पुरुजित् उसी कुन्तिभोजका बेटा था। पुरुजित् उसका नाम है और कुन्तिभोज उसका कुलनाम। (गीतारहस्य)

३—दस हजार योद्धाओंसे अकेले युद्ध करनेवाले रणनीतिज्ञ सेनापतिको महारथी कहते हैं।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवंतः सर्व एव हि ॥ ११ ॥
तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

(९) और भी नाना प्रकारके शस्त्र चलानेमें निपुण और युद्धमें कुशल बहुतसे शूरवीर मेरे लिये प्राणतक दे देनेको तैयार हैं ।

(१०) और सेनाकी रक्षा स्वयं भीष्मजी कर रहे हैं, इससे इसका बल अपर्याप्त (अपरिमित) है । उधर पांडवोंकी सेना (इसके मुकाबले) पर्याप्त (थोड़ीसी) है और उसकी रक्षा भीमसेन कर रहा है ।

(११) अब आप सब लोग अपने अपने स्थानोंपर डटकर भीष्मजीकी रक्षा करें ।

(१२) अनन्तर वृद्ध भीष्मजीने दुर्योधनका हर्ष और आनन्द बढ़ा सिंहकी तरह गरज कर बड़े जोरसे शंख बजाया ।

(१३) बस फिर क्या था, सारी सेनामें धूम मच गयी ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

सब लोग अपने अपने शंख बजाने लगे। किसीकी भेरी, किसीका पणव, किसीका अनक और किसीका सींग बजने लगा। यहां-तक कि आकाशमें वह शब्द गूंज उठा।

(१४) तब सफेद घोड़ोंके रथमें बैठे हुए माधव और पांडव (अर्जुन) ने भी अपने अपने दिव्य शंख बजाये।

(१५) हृषीकेशने[१] पांचजन्य[२], धनंजयने[३] देवदत्त, और भयंकर उद्योग करनेवाले वृकोदर याने बड़े पेटवाले भीमसेनने बड़ा भारी पौंड्र शंख बजाया।

(१६) कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय, नकुलने सुघोष और सहदेवने मणिपुष्पक शंख बजाया।

१—हृषीकेश अर्थात् हृषीक माने इन्द्रिय और ईश माने स्वामी—इन्द्रियोंका स्वामी।

२—एक समय श्रीकृष्णने समुद्रमें पंचजन नामक दैत्यको मार उसके पेटसे यह शंख निकाला था। इसलिये इसका नाम पांचजन्य हुआ।

३—धर्मराजका राजसूय यज्ञ होनेके पूर्व पांडवोंने जो दिग्विजययात्रा की थी उसमें अर्जुनने सब राजाओंको जीतकर विपुल धन प्राप्त किया था इसलिये अर्जुनको धनंजय कहने लगे।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुःशंखान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥१८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

(१७) धनुर्धर काशीराज, महाशस्त्रधारी शिखण्डी, विराट, धृष्टद्युम्न और अजेय सात्यकि आदिने भी साथ साथ शंख बजाये ।

(१८) द्रुपद और द्रौपदीके पुत्रोंने, वीरबालक अभिमन्युने और सभी राजाओंने अपने अपने शंख बजाये ।

(१९) उन शंखोंके नादसे धरती और आकाश गूंज उठा और उसने कौरवसेनाका हृदय दहला दिया ।

(२०) कौरवोंको अपने अपने स्थानमें खड़े और युद्धके लिये तैयार देखकर कपिध्वज[१] पांडव याने अर्जुनने अपना धनुष उठाया ।

१—अर्जुनकी ध्वजा या पताकापर श्रीहनुमानजी विराजते थे इसलिये अर्जुनको कपिध्वज कहते थे ।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

(२१-२३) इस प्रकार सब तैयारी हो जानेपर श्रीकृष्णसे अर्जुनने कहा कि मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें ले चलो, देखूं तो सही, इस सेनामें मुझसे लड़नेके लिये कौन कौन योद्धा आये हैं—दुष्ट दुर्योधनकी इच्छा पूरी किया चाहनेवाले इन लड़ाकोंको मैं देखूंगा।

(२४-२५) संजयने कहा—गुडाकेश[१] (अर्जुन) का यह वचन सुन हृषीकेश (श्रीकृष्ण)ने अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीच ला खड़ा किया और वहां भीष्म-द्रोण और उपस्थित राजाओंके सामने (अर्जुन)से कहा—देखो पार्थ ! ये कौरव खड़े हैं।

१—गुडाका अर्थात् निद्रा अथवा आलसको जीतनेवाले अर्जुनका, उसका ईश यानें स्वामी—गुडाकेश कहा है।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥३०॥

(२६-२७) वहां अर्जुनने अपने चाचा, दादा, गुरु, मामा, भाई, भतीजे, पोते, मित्र, ससुर और साथियोंको खड़े देखा।

(२८-३०) यह दृश्य देखकर अर्जुनका जी भर आया। बहुत दुखी होकर उसने श्रीकृष्णसे कहा कि, हे कृष्ण! मेरे साथ लड़नेके लिये आये हुए इन अपने भाइयोंको देखकर मेरे हाथ पैर ढीले हो रहे हैं, मुंह सूखा जाता है, शरीर कांप रहा है और रोमांच हो रहा है। हाथसे गांडीव धनुष छूटा चाहता है। सारे बदनमें दाह हो रही है। यहां खड़ा रहनेमें भी मैं समर्थ नहीं हूं, सिर चकरा रहा है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाःश्वशुराःपौत्राः श्यालाःसंबन्धिनस्तथा ॥३४॥
एतान्नहंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

(३१) हे केशव ! मैं इस समय बुरे बुरे शकुन देख रहा हूं । युद्धमें अपनेही भाईबन्धोंको मारकर मेरा क्या लाभ होगा ! मैं नहीं समझता ।

(३२) मैं विजय नहीं चाहता, राज्य या सुख भी मुझे नहीं चाहिये । हे गोविन्द् ! मुझे राज्य भोग या जीवन लेकर क्या करना है !

(३३) जिनके लिये राज्य भोग और सुख चाहिये वे तो जान और माल न्योछावर करके यहां (मरने मारनेको) तैयार हैं ।

(३४-३५) गुरु, चाचा, भतीजे, दादा, मामा, ससुर, पोते, साले और सभी नातेदार यहां मौजूद हैं, इन्हे मैं नहीं मारना चाहता, चाहे ये मुझे भले ही मार डालें । चाहे मुझे तीनों

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥
तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥
यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

लोकोंका राज्य क्यों न मिल जाय—इस पृथ्वीके राज्यकी कौन कहे—मैं इनपर हाथ नहीं उठाना चाहता।

(३६) धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमारी क्या भलाई होनेवाली है ? हे जनार्दन ! ये सब तो आततायी* हैं ! इन्हें मारनेसे हम केवल पापके भागी होंगे।

(३७) इसलिये अपने भाइयोंको न मारना ही हमारे लिये उचित है। अपने भाइयोंको मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ?

(३८) लोभसे इनकी बुद्धि मारी गयी है—इन्हें अपने कुलके मिटानेका दोष या मित्रद्रोहका पाप नहीं दिखायी देता।

---

* अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः ॥
(वशिष्ठस्मृति ३, १६)

आग लगानेवाले, ज़हर खिलानेवाले, हकनाहक शस्त्र चलानेवाले, दूसरोंका धन लूटनेवाले, दूसरोंकी भूमि अथवा स्त्री हरण करनेवाले, ये छः प्रकारके आततायी होते हैं।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥
कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

(३९) पर हमलोग तो जानते हैं कि कुलक्षयका कितना बड़ा पाप है, यह जानकर भी उससे बचना न जानें, यह कैसी बात है ?

(४०) कुलक्षयसे सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं और कुल-धर्मके नाशसे सब कुल अधर्मके वशमें हो जाता है।

(४१) अधर्मके बढ़नेसे कुलस्त्रियां भ्रष्ट होती हैं और कुल-स्त्रियां जब भ्रष्ट होती हैं तब उनसे वर्णसंकर उत्पन्न होता है।

(४२) वर्णसंकरसे कुलका नाश करनेवाले अपने बचे बचाये कुलके साथ नरकमें जा गिरते हैं। इनके पूर्वपुरुषोंको फिर पिण्ड और उदक नहीं मिलता और इनके पितरोंका भी पतन होता है।

(४३) कुलका नाश करनेवालोंके वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाले इन दोषोंसे सनातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुन-
विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

(४४) हे जनार्दन ! जिनका कुलधर्म नष्ट हुआ उनका स्थान सदा नरकमें होता है, ऐसा मैंने सुना है ।

(४५) हा ! हम लोग बड़ा भारी पाप कर रहे हैं जो राज्य-सुखकी इच्छासे अपने ही भाइयोंको मार डालनेपर उद्यत हो रहे हैं ।

(४६) यदि शस्त्र लेकर कौरव मुझ निःशस्त्र और अप्रति-कारी (प्रतिकार न करनेवाले) को रणमें मार डालें तो यह उससे कहीं अच्छा है ।

(४७) संजयने कहा—दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े हुए

अर्जुनने इस प्रकार कहकर अपना तीर कमान रख दिया और आप बड़े शोकमें डूबकर रथपर चुपचाप बैठ गया।

[अर्जुनको विषाद कैसे हुआ इसका वर्णन हो चुका। विषाद ही वह योग है जहां मनुष्यको विषयोंके योगसे छूटकर सच्चे आनन्दके योगकी इच्छा और अधिकार प्राप्त होता है। विषय-सुखमें ही जो लिप्त है उसे अक्षय सुखका तबतक ख्याल भी नहीं होता जबतक उस विषयसुखके भीतरका महान् दुःख उसके सामने भीषण रूप धारण करके खड़ा नहीं होता। जब विषय-सुखका दुःख उसे दुःख देने लगता है तब वह उस दुःखसे छूटने-की इच्छा करता है और तब उसे यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह ब्रह्मज्ञानका उपदेश सुने। इसीलिये कवियोंने दुःखकी भी महिमा गायी है और श्रीमद्भागवत्कारने इस श्लोकमें क्या ही आनन्द कर दिया है—

विपदः सन्तु नो शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यात् अपुनर्भवदर्शनम्॥

अर्थात् हे जगद्गुरो! सदा ही हम लोगोंपर विपत्ति आया करे, क्योंकि विपत्ति आनेसे आपका दर्शन होता है और आपका दर्शन ऐसा है कि फिर भव (संसारके दुःखों) का दर्शन ही न हो। मूल श्लोकके अन्तिम चरणमें जो काव्यकौशल है उसका आनंद संस्कृतज्ञ पाठक ही ले सकेंगे। अस्तु, तात्पर्य यह कि भवबन्धनोंके दुःखसे ही ईश्वरका स्मरण होने लगता है। यह

सामान्य जनोंकी बात हुई। अर्जुनको भी संसारके ये ही शोकमोहरूप बन्धन दुःख दे रहे हैं और इसीलिये श्रीकृष्णको यह योगशास्त्र बताना पड़ा। परन्तु अर्जुन केवल सामान्य जनोंके समान दुःखी नहीं है। शोक तो उसको हुआ है, परन्तु इस शोकमें भी,मोहमूलक ही क्यों न हो, धर्मकी ओर उसकी प्रवृत्ति है—उसे वैराग्य हो आया है—चाहे यह श्मशानवैराग्यही क्यों न हो। वह राज्य और संसार-सुख परित्याग करके संन्यास ग्रहण करनेके लिये तैयार हुआ है। इस युद्धको वह पाप समझता है, वह यह सोचता है कि यदि मैं युद्ध करूंगा तो कुलक्षय और मित्रद्रोहका पाप लगेगा। राज्य और सुख लेकर क्या करेंगे जब अपने ही लोग मारे जायंगे? कुलक्षयसे सनातनधर्म नष्ट होगा। धर्म नष्ट होनेसे कुल स्त्रियां भ्रष्ट होंगी, उससे वर्णसंकर होगा, वर्णसंकरसे 'पिंडोदक' न पानेसे पितरोंका पतन होगा और हम भी नरकमें गिरेंगे। अर्जुन रणसे भयभीत नहीं हुआ था, बल्कि उसे अपने ही भाइयोंके रणमें मारे जानेका आगे होनेवाला शोक अभीसे हो रहा था। यह शोक अपने भाइयोंकी मृत्युकी कल्पनासे हो रहा था। और इसी मोहमूलक शोकमें उसकी धर्मबुद्धि कुलक्षयसे होनेवाले अधर्मका बड़ा ही भीषण दृश्य उसके सामने खड़ा करके उसे यह बतला रही थी कि युद्ध मत करो—धर्मका सत्यानास हो जायगा! यह धर्मबुद्धि किस प्रकार मोहमूलक थी इसका विचार दूसरे अध्यायमें किया जायगा। यहां यह अवश्य स्मरण

रखना चाहिये कि संसारके विषयोंसे विषाद, परन्तु उस विषादमें धर्मबुद्धिकी जागर्तिसे ही अर्जुनको यह योगशास्त्र सुननेका अधिकार प्राप्त हुआ है और ऐसी ही अवस्था जिन लोगोंकी है उन्हें भी यह अधिकार प्राप्त है।]

प्रथम अध्याय समाप्त
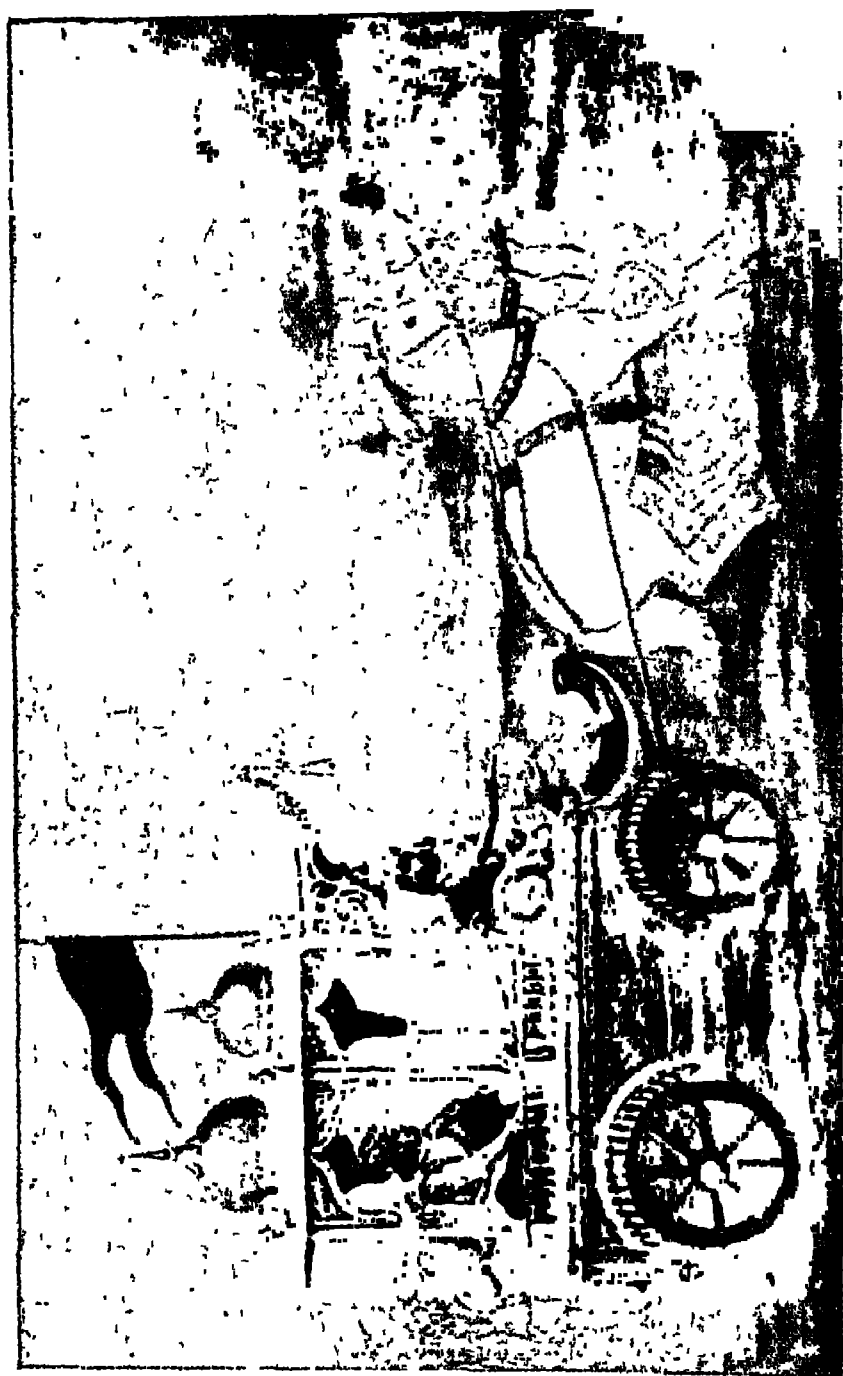
द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

सांख्ययोग

[अर्जुनको युद्धके दृश्यसे विषाद हुआ, धर्मराज्यकी स्थापनाका हेतु स्मृतिपटसे मिट गया, क्षत्रिय धर्मका ज्ञान लोप हो गया और यह सूझने लगा कि इस युद्धमें अपनेही कुलका संहार करना अधर्मकी वृद्धि, तज्जन्य संकर और संकरसे नरकवास आदिका कारण होता है। अर्जुन धर्मात्मा था, इसमें कोई सन्देह नहीं; पर उसकी धर्मबुद्धिको मोह हुआ था और उसे जो कुछ सूझ रहा था वह भी मोहमूलक ही था। इसलिये उस मोहको दूर करनेके निमित्त योगेश्वर श्रीकृष्णने उसे पहले क्षत्रिय धर्मका स्मरण कराया है और फिर जिस कारणसे उसे मोह हुआ अर्थात् "मेरे ये गुरुजन, पूज्य और वृद्ध सम्बन्धी और बन्धु बान्धव मारे जायेंगे" उस कारणको सत्यता और असत्यता

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

दिखलानेके लिये आत्माका स्वरूप बताया है और इसीलिये इस अध्यायका नाम सांख्य अर्थात् ज्ञानका योग है।]

(१) संजयने कहा— करुणासे उसका हृदय भर गया था, उसकी अकुलाई हुई आंखोंमें आंसू भर आये थे। ऐसे शोकाकुल अर्जुनसे मधुसूदन (श्रीकृष्ण) ने कहा—

(२) हे अर्जुन! युद्धके समयमें यह मोह तुम्हारे अन्दर कहांसे आ गया? यह आर्य नाम धारण करनेवालोंको नहीं सोहता। इससे स्वर्ग नहीं मिलता! यह सारी कीर्तिपर कलंक लगानेवाला काम है।

(३) पार्थ! ऐसे नामर्द मत बनो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। हे परन्तप! दिलकी यह कमजोरी छोड़ दो और युद्धके लिये उठो।

(४) अर्जुनने कहा—हे अरिसूदन मधुसूदन! जो द्रोण और

गुरुनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगानुरुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥६।
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहितन्मेशिष्यस्तेऽहंशाधिमां त्वां प्रपन्नम्।७

भीष्म मेरे पूज्य हैं उनसे आज बाणोंसे युद्ध करूं ? यह कैसे हो सकता है ?

(५) महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर भीख मांगकर जीना अच्छा है ! सांसारिक सुखोंकी इच्छा करनेवाले गुरुजनोंको मारकर उनकी देहके रक्तसे सने हुए भोगोंको मैं कैसे भोग सकता हूं ?

(६) मेरी समझमें यह भी नहीं आता कि हम लोगोंके जीतनेमें लाभ है या हारनेमें। जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते वे कौरव ही सामने खड़े हैं !

(७) मोहसे मेरा स्वभाव दूषित हो गया है और (इस समय) धर्म क्या है यह समझमें नहीं आता। इसलिये आपसे पूछता हूं। जिसमें निश्चय रूपसे मेरा श्रेय[१] हो वही बतलाइये, मैं आपका शिष्य हूं, आपकी शरणमें हूं, मुझे शिक्षा दीजिये।

१—श्रेय कहते हैं उस कल्याण या सुखको जिससे आत्मज्ञानकी सिद्धि हो। ऐहिक सुख या कल्याणको प्रेय कहते हैं।

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः ॥११॥

(८) पृथ्वीका निष्कंटक राज्य या देवताओंका स्वामित्व भी मिले तो भी यह शोक जो इन्द्रियोंको जलाये डालता है कैसे दूर होगा इसका कोई साधन मुझे नहीं देख पड़ता।

(९) संजयने कहा— इस प्रकार निद्राको जीतनेवाले, अपने प्रतापसे शत्रुओंको कंपानेवाले अर्जुनने कह कर गोविन्दसे यह कह दिया कि, "मैं युद्ध न करूंगा" और चुपचाप बैठ गया।

(१०) दोनों सेनाओंके बीच अर्जुनकी उस उदास मूर्त्तिको देख-कर हृषीकेश (श्रीकृष्ण) भगवानने मुसकराते हुए उससे कहा—

(११) हे अर्जुन! तुम उनके लिये शोक कर रहे हो जिनके लिये शोक न करना चाहिये और बातें पण्डिताईकी करते हो। पण्डित कभी मरे जीतोंके लिये दुःख नहीं किया करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

[मरना जीना तो लगा ही हुआ रहता है। इसमें दुःख करने या आनंद मनानेकी कोई बात नहीं। मरना नाम आत्माके मरनेका नहीं है, न जीना ही आत्माके जीनेका नाम है। यह देह जो पञ्च महाभूतोंसे अर्थात् पृथ्वी (मिट्टी) अप (जल) वायु (हवा) तेज (आग) और आकाशसे बनी है वही देह मरती है, वही जीती है। आत्मा मरता जीता नहीं–वह शरीर धारण कर लेता है और फिर छोड़ भी देता है। वह यदि मरता नहीं तो उसके लिये दुःख क्यों? आत्मा अमर और अजन्मा है। हमारे शरीरके अन्दर जो आत्मा है वह सदैव रहता है और वही आत्मा हम हैं इसलिये-)

(१२) हम तुम और ये राजा लोग पहले नहीं थे ऐसा नहीं और यह भी नहीं है कि आगे न रहें (अर्थात् इस जन्मके पूर्व भी और इस जीवनके बाद भी रहेंगे।)

(१३) जिस प्रकार (देह धारण कर रहनेवाले) इस देहीको इस देहमें बचपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त हुआ करता है उसी प्रकार उसे देहांतर याने दूसरी देहकी प्राप्ति हुआ करती है। उससे धैर्यवान मनुष्य कभी नहीं घबराते।

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

[सुख दुःख, सरदी या भला बुरा किसीको तभी लगता है जब इन्द्रियोंके* साथ बाहरी वस्तुओंका सम्बन्ध होता है। जैसे किसीकी सूरत तभी हमें अच्छी या बुरी मालूम होती है जब आंख उसे देखती है और उसका चित्र अन्दर बनाती है; उसी तरह खट्टी मीठी और तीती चीजें जीभसे ही संबन्ध रखती हैं; और नाक कान त्वचाका भी बू बदबू, सुर बेसुर और सरदी गरमीसे वही सम्बन्ध है। तात्पर्य, इन्द्रियोंका बाहरी वस्तुओंके साथ किसी तरहका मिलना ही सुख या दुःखका कारण होता है। इन्द्रियोंके बाहरी वस्तुओंसे ऐसे मिलनेको मात्रास्पर्श कहते हैं।]

(१४) हे कुन्तीपुत्र! मात्रास्पर्श (इन्द्रिय और विषयका परस्पर संयोग) ही सरदी गरमी या सुख दुःख देनेवाले हैं और ये आगमापायी अर्थात् अनित्य हैं। इन्हें सहन करो।

---

* इन्द्रियां १० हैं, यथा १ आंख, २ कान, ३ जीभ, ४ नाक, ५ त्वचा, ६ हाथ, ७ पांव, ८ मुंह, ९ उपस्थ, १० गुदा। पहली पांच ज्ञानेन्द्रियां और दूसरी पांच कर्मेन्द्रियां कहाती हैं।

पंच ज्ञानेन्द्रियां पांच प्रकारके ज्ञान प्राप्त करती हैं अर्थात् कान शब्द सुनता है, त्वचा सरदी गरमी मालूम करती है, आंख रूप देखती है, जीभ रस चखती है और नाक बू लेती है। इन्द्रियोंके यही पांच विषय कहलाते हैं १ शब्द, २ स्पर्श, ३ रूप, ४ रस, ५ गन्ध।

यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

(१५) हे पुरुषश्रेष्ठ ! ये (मात्रास्पर्श) खुशी और रंजकी परवा न करनेवाले जिस धैर्यवान पुरुषको नहीं सताते वही पुरुष अमर होनेमें समर्थ होता है।

[ऐसे पुरुषकी मृत्यु नहीं होती; जिसकी मृत्यु होती है वह उसकी देह है जिसे वह अपनी आत्मा नहीं समझता। देह मिट्टी, जल, आग आदिसे बनी है, आत्मा मिट्टी या जल या आग नहीं है। जिस मिट्टीको पैरोंतले रौंदते हुए हम चलते हैं और जो जल, आग, आकाश, वायु हम रोज़ नित्य काममें लाते हैं वही मिट्टी, जल, आग, आकाश, वायु इस देहमें हैं, उन्हींकी यह देह है। येही पांच तत्त्व मिलकर देह बन जाते हैं। जैसे वे अलग पांच तत्त्व हैं वैसेही मिले हुए भी हैं। यदि उनके अलग अलग रहते हमें उनकी परवा नहीं तो उनके एक स्थानमें एक रूप बनतेही हम उनकी परवा क्यों करते हैं ? यह देह ही हम नहीं हैं—यह ज्ञान न रहनेसे हम अपनी देहको ही आत्मा समझते हुए—अपनेको भूल जाते हैं। सच्ची बात भूलकर झूठी गले लगाते हैं। आत्मा जो सत्य है वह बिछुड़ जाता है और देह जो मिथ्या है वही आत्मा बन जाती है। परन्तु सत्य छिपता नहीं, वह सत्य ही सदा रहता है। जो वस्तु सत्य

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

है, वही वास्तवमें है और जो मिथ्या है—नहीं है, वह नहीं ही जानिये ।]

(१६) जो वस्तु मिथ्या है उसका रहना नहीं होता—वह रह ही नहीं सकती और जो वस्तु सत्य है-वास्तवमें है-वह न रहे ऐसा नहीं हो सकता । (हमारा आत्मा-स्वयं हम-यदि वास्तवमें हैं तो वह नहीं है ऐसा कभी नहीं हो सकता) इस सत् और असत्के बारेमें जो सच्चा सिद्धान्त है (असत् कोई पदार्थ नहीं है-निरा भ्रम है, और सत्ही सच और सदा रहने-वाला है) उसे ज्ञानियोंने जाना है ।

(१७) इस सारे संसारके अन्दर जो व्याप्त है (फैला हुआ है) वह अविनाशी है, अव्यय है, उसमें कभी कोई घटबढ नहीं होती । कोई उसका नाश नहीं कर सकता ।

(१८) नित्य, अविनाशी और स्वतःसिद्ध जो आत्मा है उसके ये शरीर अनित्य याने नष्ट होनेवाले हैं । इसलिये (नष्ट होनेवाले शरीरकी चिन्ता न करके) तुम युद्ध करो ।

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम्॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२

(१९) जो लोग इस आत्माको मारने या मरनेवाला कहते हैं वे मूर्ख हैं, क्योंकि यह आत्मा न किसीको मारता है, और न मरता ही है ।

(२०) यह आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता, न कभी मरता है । यह भी संभव नहीं कि आत्मा पहले न रहा और फिर नष्ट हो जाय अथवा फिर उत्पन्न हो, क्योंकि यह तो अजन्मा, नित्य और अनादि है । शरीरके मारे जानेसे यह नहीं मारा जाता ।

(२१) जो पुरुष इस प्रकार आत्माको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय समझता है वह किसीको कैसे मार सकता या मर ही सकता है ?

(२२) जिस तरह फटे पुराने कपड़े फेंककर मनुष्य नये कपड़े पहन लेता है उसी तरह सड़े गले शरीरको छोड़कर आत्मा नवीन शरीर धारण कर लेता है ।

नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहंति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

(२३) इस आत्माको कोई शस्त्र छेद नहीं सकता। इसे आग जला नहीं सकती, पानी इसे भिगो नहीं सकता और हवा इसे कभी सुखा नहीं सकती।

(२४) यह घायल होनेवाली, जल जानेवाली, भींगनेवाली या सूखनेवाली वस्तु नहीं है। यह नित्य, सर्वत्र रहनेवाली, स्थिर, अचल, और सनातन है।

(२५) इन्द्रियोंसे इसका ज्ञान नहीं होता, यह बुद्धिसे जाना नहीं जाता और इसमें किसी तरहका हेरफेर नहीं होता; इसलिये—यह जान कर (कि आतमा इस प्रकार है) तुम्हें शोक न करना चाहिये।

(२६) पर इसपर भी यदि तुम इसे (देहकी तरह) नित्य मरने जीनेवाला समझते हो तो भी हे महाभुज! तुम्हें इसके लिये शोक न करना चाहिये। (कारण—)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनंवेद न चैव कश्चित्॥२९॥

(२७) जो जीता है-जन्म लेता है वह अवश्य मरता है, और जो मरता है वह जरूर जन्म लेता है। जब यह बात टल नहीं सकती तब शोक करनेसे क्या लाभ ?

[किसीके आदिका पता नहीं लगता और किसीके अन्तका भी पता नहीं मिलता। कहांसे कौन जन्म लेता है और मरकर कौन कहां जाता है, इसका पता किसको है ? इसलिये—]

(२८) प्राणी जन्मके पहले कहां थे यह मालूम नहीं, मरनेके बाद कहां जायंगे यह भी मालूम नहीं; केवल बीचकी अवस्था मालूम है। जब यह मालूम हो नहीं है कि जन्मके पहले क्या था और मरनेके बाद क्या होनेवाला है तब तुम शोक किस बातका करते हो ?

(२९) इस आत्माको कोई कोई एक आश्चर्य पदार्थ समझते हैं; कोई मुंहसे कह देते हैं कि यह एक आश्चर्य है और कोई यह सुना करते हैं; पर इस तरह देखने, कहने या सुननेसे इसे कोई नहीं जान सकता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभंते युद्धमीदृशम्॥३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्म कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

(३०) सबके शरीरमें रहनेवाला यह आत्मा नित्य है, इसका कोई वध नहीं कर सकता । इसलिये किसी प्राणीके लिये तुम्हें शोक न करना चाहिये ।

(३१) अपना (क्षत्रिय) धर्म देखकर भी तुम्हें युद्धसे पीछे न हटना चाहिये, धर्मयुद्धसे बढ़कर श्रेय क्षत्रियका और क्या हो सकता है ?

(३२) हे पार्थ ! यह युद्ध तो तुम्हारे लिये अपने आप खुला हुआ स्वर्गका द्वार है; युद्धका ऐसा अवसर पुण्यात्मा क्षत्रियों-को ही मिलता है ।

(३३) इसपर भी यदि तुम युद्ध न करोगे तो अपने धर्म और कीर्त्ति दोनोंसे हाथ धो पापके भागी बनोगे ।

(३४) सब लोग तुम्हारी ऐसी निन्दा करेंगे जिसकी कोई

भयाद्रणादुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः ।
निंदंतस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

हद नहीं; भले आदमीके लिये अपकीर्त्तिसे मर जानाही अच्छा है।

(३५) सब महारथी यह समझेंगे कि तुम डरकर रणसे भाग गये और आज जो तुम्हें बड़ा मानते हैं उनकी दृष्टिमें तुम गिर जाओगे।

(३६) तुम्हारे शत्रु तुम्हारे बलकी निन्दा कर ऐसी ऐसी बातें कहेंगे जो कोई कह नहीं सकता। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी?

(३७) अजी युद्धमें यदि तुम मारे गये तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा और यदि जीत गये तो इस भूमिका राज्य भोग करोगे। इसलिये हे कौन्तेय, युद्धके लिये कमर कसो और उठो।

(३८) सुख और दुःखको एकसा समझ और उसी प्रकार लाभहानि और हारजीतकी पर्वा न कर युद्ध करो; ऐसा करनेसे तुम्हें पाप न लगेगा।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥३९॥
नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

(३९) जो ज्ञान मैंने तुम्हें बताया वह सांख्य अर्थात् ज्ञान निष्ठाका ज्ञान बताया है। अब योग (कर्मयोग)का ज्ञान सुनो; जिससे युक्त होनेसे हे पार्थ तुम कर्मबन्धनको काट सकोगे।

(४०) इसमें आरंभ किये हुए कर्मका नाश नहीं होता और इसमें कोई विघ्न भी नहीं है। इस धर्मका थोड़ा भी आचरण करनेसे महान् विपद्से रक्षा होती है।

[कहनेका तात्पर्य यह है कि योगयुक्त होकर जो भी काम किया जायगा वह चाहे पूरा न भी हो तौभी जितना हुआ होगा वह व्यर्थ नहीं होगा; और फिर इसमें ऐसी कोई बात भी नहीं है कि इस प्रकारके योगयुक्त जीवनको कोई निभा न सके, क्योंकि ऐसा तो है नहीं कि इस प्रकारकी तपस्या एक बार भंग होनेसे उससे लाभके बदले हानि हो, बल्कि जितनी भी तपस्या हो जायगी उतनेसे महान् कल्याण होगा—आगेके लिये मार्ग सुधर जायगा—आनन्द बढ़ता ही जायगा और एक जन्ममें यदि कार्य सिद्ध न हुआ तो दूसरे जन्ममें होगा।]

(४१) इस योग मार्गमें कार्य्य-अकार्यका निश्चय करनेवाली

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

बुद्धि "एक" ही याने स्थिर होती है। जो लोग अव्यवसायी हैं (अर्थात् जिन्हें सत्यासत्यकी परख नहीं है) उनकी बुद्धिमें विचारकी अनेक शाखाएं होती हैं (अर्थात् चित्त चंचल रहता है तथा क्या करना चाहिये और क्या नहीं इसका निर्णय उनकी बुद्धि कभी नहीं कर सकती)।

(४२) जो अविपश्चित याने अविवेकी हैं, जो वेदोंके कर्मकांडकी बातोंमें ही मगन हैं और यह कहा करते हैं कि जो कुछ है यही है—इसके सिवाय और कुछ नहीं, वे पुष्पित वृक्षके समान शोभायमान यह वाणी सुनाया करते हैं कि—

(४३) नाना प्रकारके यज्ञयागादि कर्मोंसे बार बार जन्मरूप फल मिलता और भोग और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। (यथार्थमें) ये लोग नाना प्रकारकी इच्छाओंसे ग्रसे हुए हैं और स्वर्गको ही परम पुरुषार्थ मानते हैं।

(४४) भोग और ऐश्वर्यमें फंसे हुए लोगोंका चित्त विषयचिन्तामेंही चूर रहता है और उनकी बुद्धि समाधिस्थ नहीं होती।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

(४५) वेदोंमें सत्व, रज, और तम इन्हीं तीन गुणोंका वर्णन है। अर्जुन! तुम इन तीनोंको लांघकर गुणातीत[१] हो जाओ, निर्द्वन्द्व,[२] सत्वस्थ[३] हो और योग[४] और क्षेम[५] का विचार छोड़ आत्मामें लीन हो जाओ।

(४६) चारों ओर पानी ही पानी भरा हुआ हो तो कुंएका जितना प्रयोजन हो सकता है उतना ही ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणको वैदिक काम्या कर्मकाण्डसे प्रयोजन रहता है।

(४७) हे अर्जुन! केवल कर्म करने भरका ही तुम्हारा अधिकार है, कदापि ऐसी इच्छा मत करो कि यह कर्म करनेसे मुझे अमुक फल मिलेगा, पर अकर्मका संग* भी छोड़ दो।

---

१ गुणातीत—तीनों गुणोंके बन्धनोंसे मुक्त।

२ निर्द्वन्द्व—सुख और दुःख, सरदी और गरमी, लाभ और हानि इत्यादि द्वंद्वोंसे निश्चिन्त।

३ सत्वस्थ—ज्ञानकी अवस्थामें स्थिर।

४ योग—प्रियवस्तुका लाभ।

५ क्षेम—प्राप्त लाभकी रक्षा।

* संग अथवा आसक्ति मनकी वह वृत्ति है जो किसी विषयके भोगकी ओर मनुष्यको प्रवृत्त करती है। विषयका ध्यान करनेसे यह वृत्ति जाग उठती है और

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥५०॥

(४८) हे धनञ्जय! योगस्थ होकर (याने ईश्वरार्पण-बुद्धिसे) संग छोड़कर सिद्धि असिद्धिमें सम होकर कर्म करो। (सिद्धिअसिद्धि, सुखदुःखको) एकसा समझना ही योग कहाता है।

(४९) इस प्रकारकी समत्वबुद्धिके योगकी अपेक्षा अन्य कर्म छोटे हैं इसलिये इस समत्वबुद्धिकी (सुखदुःखादिको एकसा समझनेकी बुद्धिकी) शरण लो; कर्मके फल पानेकी इच्छासे जो लोग कर्म करते हैं वे कृपण (दीन) हैं।

(५०) जिनकी समत्वबुद्धि है वे पाप और पुण्य दोनों छोड़ देते हैं (याने पापपुण्यसे वे छूट जाते हैं); इसलिये इस योगको धारण करो। योग ही कर्मका कौशल (खूबी) है।

मनुष्यको उस विषयमें अटकाती है। विषयमें मनकी इसी अटकको संग या आसक्ति कहते हैं। किसी भी कर्मके करनेसे उस कर्मके फलके कारण उस कर्ममें इस तरह मन अटक जाता है। सब कर्मोंको छोड़ झंझटसे छूटनेकी भी इसी प्रकार इच्छा होती है। यह भी अटक ही है और इस श्लोकके 'अकर्मका संग'का इसी प्रकारकी अटकसे मतलब है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छंत्यनामयम् ॥५१॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥५४॥

(५१) ज्ञानी पुरुष ऐसी समत्वबुद्धिसे युक्त होकर कर्म-फलको त्याग देते हैं और जन्ममृत्युके फेरसे छूटकर उस स्थानको पहुँचते हैं जहां क्लेशका लेश भी नहीं है।

(५२) जब तुम्हारी बुद्धि मोहके मैलको पार कर जायगी तब तुम सुनी हुई और सुननेकी सब बातोंके परे पहुंचोगे।

(५३) नाना प्रकारकी बातें सुनकर घबरायी हुई तुम्हारी बुद्धि जब स्थिर होगी तब तुम्हें यह योग (समत्वबुद्धिरूप) प्राप्त होगा।

(५४) अर्जुनने पूछा—समाधिस्थ या स्थितप्रज्ञ किसका कहते हैं? उसकी वाणी क्या होती है और उसका आचरण कैसे होता है?

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।

नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

(५५) श्रीकृष्ण भगवानने कहा—मनकी सारी इच्छाओंको छोड़कर जब मनुष्य अपने अन्दर आप ही सन्तुष्ट हो रहता है तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

(५६) दुःखसे जिसका मन चलविचल नहीं होता; सुख रहते जिसे मौज उड़ानेकी इच्छा नहीं रहती, जिसका राग, भय क्रोध जाता रहता है उसे स्थितधी (स्थितप्रज्ञ) कहते हैं।

(५७) संसारकी किसी वस्तुसे भी जो स्नेह नहीं रखता और जो शुभ और अशुभसे सुखी या दुःखी नहीं होता उसकी बुद्धि स्थिर है (अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ है)।

(५८) जो अपनी इन्द्रियोंको कछुएके समान सारे विषयोंसे खींच लेता है उसकी बुद्धि स्थिर है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

(५९) जिस मनुष्यने इन्द्रियोंको वशमें रखा है उस मनुष्यसे विषय दूर हो जाते हैं; परन्तु उन विषयोंकी चाह एकबारगी ही नष्ट नहीं होती। यह चाह तब नष्ट होती है जब उसे परब्रह्मके दर्शन होते हैं।

(६०) हे कुन्तिपुत्र! (इन्द्रियदमनका) यत्न करनेवाले बुद्धिमान पुरुषोंके मनको भी ये मदमत्त इन्द्रियां बेबस कर मोह लेती हैं।

(६१) इन सब इन्द्रियोंको अपने वशमें करके योगयुक्त और मत्पर होकर (अर्थात् सर्वथा मेरा याने ईश्वरका आश्रय ग्रहण करके) रहो। इस प्रकार इन्द्रियां जिसके वशमें हैं उसीकी बुद्धि स्थिर है।

(विषयभोगमें जिसका मन लिप्त हो जाता है वह उस भोगसे जल्द नहीं छूटता। इन्द्रियोंको रोककर यदि हम विषयभोग न भी करें तोभी उसकी चाह बनी ही रहती है। उदा-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामःकामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३

हरणार्थ, जिह्वाको अच्छी अच्छी चीजें खानेकी चाट पड़ी हो तो हम मनको रोककर जिह्वाका नियंत्रण कर सकते हैं अथवा खानेको ही कहींसे न मिले तो आप ही जीभ खानेसे लाचार हो जायगी ; पर अच्छी चीजें खानेको जो चाट है वह कहीं नहीं जायगी। इसी प्रकार सब इन्द्रियों और उनके भोगके विषयमें समझ लीजिये। बात यह है कि जबतक परमानंद नहीं होता तबतक विषयसुखकी प्रीति बनी ही रहती है, चाहे हम कितना ही संयम करते हों। इसलिये जबतक परमानन्द लाभ नहीं होता तबतक इन विषयोंकी इच्छा हमारे संयमको तोड़कर भी उन विषयोंकी तरफ घसीट सकती है।)

(६२) विषयोंका ध्यान करनेसे उन विषयोंसे संग हो जाता है (अर्थात् मन उन विषयोंमें अटक जाता है)। इस संगसे (उन विषयोंको भोगनेकी) इच्छा होती है और इच्छासे (अर्थात् उस इच्छाके पूर्ण होनेमें बाधा पड़नेसे) क्रोध होता है।

(६३) क्रोधसे सुधबुध खो जाती है, सुधबुधके खो जानेसे स्मृति भ्रष्ट होती है (अर्थात् सत्यासत्य ज्ञान अथवा सदुपदेश भूल जाता है); स्मृतिभ्रमसे बुद्धि (-की शुद्ध-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ॥
नचाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

वृत्ति) नष्ट होती है और बुद्धिके नष्ट होनेसे जीवका सर्वस्व नाश होता है।

(६४) जिसका अन्तःकरण वशमें है वह अपनी इन्द्रियों द्वारा, जो उसके वशमें हो रहतीं और रागद्वेषसे रहित होती हैं, विषयोंमें विहार करके भी, प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त करता है।

(६५) प्रसादसे उसके सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। जिसका चित्त प्रसन्न होता है उसकी बुद्धि भी तत्काल स्थिर हो जाती है।

(६६) पर जो इस प्रकार योगयुक्त नहीं हैं उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, उसके भावना नहीं रहती (अर्थात् वह आत्माका ध्यान नहीं कर सकता)। जो आत्माका ध्यान नहीं करता उसे शान्ति नहीं मिल सकती और जिसे शान्ति नहीं मिल सकती वह सुखी कैसे हो सकता है ?

(६७) (विषयोंमें) चरनेवाली इन्द्रियोंके पीछे पीछे जिसका

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

मन दौड़ा करता है उसका वह मन उसकी बुद्धिको वैसे ही हर लेता है जैसे जलमें नावको वायु ।

(६८) इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियां विषयोंसे सर्वथा खिंची हुई हैं उसीकी बुद्धि स्थिर होती है ।

(६९) सब लोग जिसे रात समझते हैं उसीमें संयमी पुरुष जागता रहता है; और जिसमें संसार जागता है उसे मुनि-लोग रात समझते हैं ।

(आशय यह है कि सांसारिक लोग विषयोंमें मगन रहते हैं, पर संयमी ऐसे अन्धकारमय जीवनसे सावधान रहते हैं । और संयमी जो साधना करते हैं उससे सांसारिक लोग विमुख हैं ।)

(७०) भरपूर भरे हुए परन्तु अपने स्थानपर अटल रहने-

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

वाले समुद्रमें जिस प्रकार चारों ओरसे नदियोंका पानी आ मिलता है और समुद्रकी सीमा ज्योंकी त्यों बनी रहती है उसी प्रकार जिस पुरुषके पास नाना प्रकारके विषय आते हैं (पर उसकी मर्यादाको नहीं तोड़ सकते) उसी पुरुषको शान्ति मिलती है; इच्छाके पीछे भटकनेवालेको नहीं।

(७१) जो पुरुष सारी इच्छाओंको छोड़कर निःस्पृह, निर्मम और निरहंकार होकर आचरण करता है उसीको शान्ति मिलती है।

(७२) हे पार्थ! यह ब्राह्मी स्थिति है (अर्थात् ब्रह्म-पद प्राप्त करनेवाले पुरुषकी स्थितिका यह मैंने वर्णन किया)। यह स्थिति प्राप्त होनेपर फिर मोह नहीं उत्पन्न होता। शरीर छूट जानेके समय भी ऐसी ही स्थितिमें रहनेसे ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है।

अर्जुन क्षत्रिय था। क्षात्रवृत्ति उसकी प्रधान प्रकृति थी। पर इस समय शोकमोहका तम (अन्धकार) उसपर छा रहा था। इसलिये श्रीकृष्णने सबसे पहले उसकी क्षात्रवृत्ति जगाकर उसे क्षत्रिय धर्मका स्मरण दिलाया। इससे अर्जुनके चित्तका शोक और मोह पूर्णरूपसे तो दूर नहीं हुआ पर क्षात्रवृत्ति कुछ कुछ जागरित हो उठी, क्षत्रिय धर्मका कुछ कुछ प्रकाश पड़ने लगा और अब उसके चित्तमें दो परस्पर विरोधी धर्मोंका भयानक संग्राम होने लगा। उसने कहा, दुर्बलतासे मेरा स्वभाव ही ठिकाने नहीं है, मुझे धर्मका मोह हो गया है, मैं यह नहीं समझ सकता कि मेरा क्या कर्त्तव्य है और क्या नहीं, इसलिये आपकी शरणमें हूं; जो धर्म हो, बताइये। तब श्रीकृष्णने धर्मका उपदेश आरम्भ किया और सबसे पहले यह सिद्धान्त समझाया कि आत्मा अमर है इसलिये तुम युद्ध करो। (श्लो० ११से ३० तक)। फिर यह बतलाया कि युद्ध करना क्षत्रियका धर्म है, इसलिये तुम युद्ध करो (३१से ३७ तक)। आत्माका अमरत्व और क्षत्रिय धर्म तो अर्जुन समझ गया पर अभी इस बातका निर्णय नहीं हुआ कि युद्ध करनेसे कुलक्षयका जो पाप होगा उस पापसे कैसे परित्राण होगा। इसलिये उन्होंने वह ज्ञान बतलाना आरंभ किया जिस ज्ञानसे किसी भी कर्मका बन्धन टूट जाता है। इसी ज्ञानको बुद्धियोग, योग अथवा कर्मयोग कहा है। तुम्हारा जो धर्म है उसका पालन करो, फलकी इच्छा छोड़ दो, सुखदुःख-हानिलाभ-जयपराजय सब अवस्थाओं-

को एकसा समझकर कर्म करो, यही कर्मका कौशल है जिससे कर्म करके कर्त्ता उसके बन्धनसे मुक्त होता है(३७-५३)। यह कर्मकौशल अथवा योग कैसे प्राप्त होगा इसका वर्णन ५४ वें श्लोकसे आरम्भ होता है जहांसे स्थितप्रज्ञके लक्षण बताये गये हैं। स्थितप्रज्ञ उसे कहते हैं जो अपनी सब कामनाओंको त्याग चुका है, सुखदुःखसे जिसका चित्त चंचल नहीं होता, जो राग द्वेष नहीं रखता, जिसका मन, प्राण और इन्द्रियां वशमें होती हैं इत्यादि (५४–५८)। पर स्थितप्रज्ञ कोई कैसे हो सकता है? विषयोंका त्याग करनेसे विषयोंका भले ही त्याग हो पर विषयसुखकी इच्छा नष्ट नहीं होती जबतक परमपदकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये बलात् सांसारिक विषयोंका त्याग किसीसे नहीं हो सकता। ध्यानमात्रसे विषयकी इच्छा जागरित होती है और बड़ा अनर्थ होता है। इसलिये विषय समझकर कर्म त्याग करनेसे ही (अथवा यों कहिये कि राज और सुखको विषय भोग समझकर क्षत्रियधर्म त्याग देनेसे ही) विषयोंका त्याग नहीं हो सकता। इन्द्रियोंद्वारा विषयव्यापार होते रहें और पुरुष रागद्वेषसे रहित हो तो ऐसे पुरुषको प्रसाद (प्रसन्नता–शांति) प्राप्त होता है और इस प्रसादसे सब दुःखोंका नाश होता है। परन्तु सुखदुःखमें जिसका चित्त सम नहीं रहता उसे प्रसाद नहीं मिल सकता, इसलिये उसे सुख भी नहीं मिल सकता। जो पुरुष सब इच्छाओंको छोड़कर निर्मम, निरहंकार होकर कर्म करता है वह शांति प्राप्त करता

है (५१-७२)। और इसी शान्तिसे मोक्ष होता है (७२)। इससे यह मालूम हुआ कि मोक्ष ही मनुष्यमात्रका अन्तिम ध्येय है और मोक्ष शान्तिसे मिलता है और शान्ति सब प्रकारकी इच्छाओंको त्याग देनेसे मिलती है। बुद्धिको वासनारहित करके ब्रह्मप्राप्ति करना इसीका नाम है। इसीको बुद्धियोग कहते हैं।]

दूसरा अध्याय समाप्त

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

तीसरा अध्याय

कर्मयोग

[दूसरे अध्यायमें अर्जुनका विषाद दूर करनेके लिये पहले क्षत्रिय धर्मका स्मरण कराया, फिर आत्मा क्या है इसका विवेचन करके यह सिद्ध किया कि आत्मा निरन्तर रहता है यह आत्मजीवन अनादि और अनन्त है। देह परिवर्तनशील है; आत्मा केवल देहरूपी वस्त्र पहना और उतारा करता है। इसलिये किसीके मरनेका शोक करना उचित नहीं है। फिर आत्माको अमर जानकर क्षत्रियधर्मका पालन करो। यह उपदेश देते हुए भगवानने सुखदुःख या शोकमोहके कारण-की जांच की और यह बतलाया कि आत्मज्ञान जिसको हो जाता है उसे शोकमोह नहीं हुआ करता। फिर आत्मज्ञानीके लक्षण

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

बतलाते हुए कर्मका उपदेश दिया। पर कर्म बन्धनकारक होते हैं, इसलिये क्यों बन्धनकारक होते हैं यह बताकर कर्मफलकी आशा त्याग देनेको कहा और अन्तमें यह बताया कि इस प्रकार जो मनुष्य निरहंकार, निर्मम और निस्पृह हो जाता है, उसे चिरशांति प्राप्त होती है और इसी शांतिसे ब्रह्मप्राप्ति होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मप्राप्ति परम पुरुषार्थ है और यह ब्रह्मप्राप्ति शांतिसे होती है और शांति वासनारहित बुद्धिसे। इस प्रकार जब सारी महिमा ज्ञान या बुद्धिकी है तो कर्म करनेकी आवश्यकता ही क्या है? यही प्रश्न अर्जुनके चित्तमें उठता है। इसलिये इस अध्यायमें कर्मयोगका माहात्म्य वर्णन किया जायगा।]

(१) अर्जुनने पूछा—हे जनार्दन! यदि आप कर्मसे बुद्धि-(ज्ञान) ही श्रेष्ठ मानते हैं तो जान बूझकर मुझे इस घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं?

(२) अनेक प्रकारकी बातोंसे आप मेरी बुद्धिको मोहमें डालनेकासा काम कर रहे हैं। अब ऐसी एक ही निश्चित बात बताइये जिसमें मेरा श्रेय (कल्याण) हो।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

(३) श्रीकृष्ण भगवानने कहा—हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा (मोक्षकी साधना) है यह मैं पहले ही बतला चुका हूँ—सांख्योंका ज्ञानयोग[१] और योगियोंका कर्मयोग[२]।

१—सांख्य शब्द दो भिन्न अर्थोंमें व्यवहृत होता है। एक भगवान कपिल मुनिका सांख्यशास्त्र है। इस शब्दकी उत्पत्तिके विषयमें शब्दशास्त्रज्ञोंका यह कथन है कि यह शब्द 'संख्या' धातुसे बना है और इसका मूल अर्थ गिननेवाला है और सांख्यशास्त्रमें प्रकृतिके मूल तत्व ठीक २५ गिने भी गये हैं। सम्भव है, इसी गणनासे उस शास्त्रका नाम सांख्य-शास्त्र पड़ा हो। सांख्य-शास्त्रमें ही सर्वप्रथम प्रकृति और पुरुषका यथार्थ विवेचन हुआ है। पीछे सांख्यका अर्थ इतना व्यापक हो गया कि केवल सांख्यशास्त्र या सांख्यशास्त्रके ज्ञाता ही नहीं बल्कि सांख्य कहनेसे ज्ञानीमात्रका बोध होने लगा और वेदान्ती जो सांख्यशास्त्रका प्रकृतिपुरुष-विवेचन मानते हुए सांख्यके एक पग और आगे बढ़कर प्रकृति-पुरुषके परे ब्रह्म भी मानते हैं वे भी सांख्य कहे जाने लगे। इस प्रकार सांख्य शब्दका दूसरा अर्थ ज्ञानी या ज्ञानयोगी मात्र हो गया।

२—ज्ञाननिष्ठाका अर्थ यही है कि यह जगत् क्या है, इसका कारण कौन है—प्रकृति और पुरुष क्या है इत्यादि बातोंका ज्ञान प्राप्त करने और उसीके साधनमें लगे रहनेकी अवस्था।

३—योगनिष्ठाका अर्थ यही है कि ईश्वरके अधिष्ठानमें सब कामोंको करते हुए इन कामोंका फल उसीको अर्पणकर कर्मबन्धनसे छूटकर ज्ञान प्राप्त करनेकी अवस्था।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥
नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

(४) काम करना बन्द कर देनेसे ही कोई नैष्कर्म्य (कर्मसे छुटकारा) नहीं प्राप्त कर सकता। सन्यासले (अर्थात् कामोंको छोड़ देनेसे) भी कोई सिद्धि नहीं लाभ करता।

(५) कोई भी एक पलभर भी बिना किसी प्रकारका काम किये नहीं रह सकता। प्रकृतिके [1] जो गुण हैं वे जबर्दस्ती काम कराते ही रहते हैं।

(६) जो मूर्ख कर्मेन्द्रियोंको (कर्मोंसे) खींचकर मन ही मन विषयोंका चिन्तन किया करता है उसे मिथ्याचारी कहते हैं।

(७) जो इन्द्रियोंको मनके द्वारा अपने वशमें रखकर निःसङ्ग होकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोग आचरण करता है उसकी बात कुछ और है।

१—प्रकृतिके गुण—सत्व, रज और तम। इन्हीं तीन गुणोंसे सृष्टिके सब काम होते हैं। कौन गुण किस कर्मका कारण होता है, इसका वर्णन आगे आनेवाला है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्द्येदकर्मणः ॥८॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

(८) तुम अपना नियत १ कर्म करो; अकर्मसे कर्म ही श्रेष्ठ है। अकर्मसे तो तुम्हारा शरीर भी नहीं चल सकता।

(९) यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्मको छोड़ और जो कर्म हैं उनसे यह संसार बंधा हुआ है। (इसलिये) तुम सङ्ग छोड़कर (यज्ञार्थ) कर्म करो।

[यज्ञ—'यज' धातुसे यह शब्द बना है जिसका अर्थ है पूजन करना और जितने भी यज्ञ हैं उनका हेतु ऐहिक अथवा पारलौकिक सुखकी वृद्धिके लिये अथवा केवल निष्काम सेवाके लिये ईश्वर अथवा देव, पितर और ऋषि आदिका पूजन करना ही है। इस प्रकार ईश्वर-प्रीत्यर्थ किये जानेवाले सभी कर्म यज्ञ हैं। अश्वमेधादिक वैदिक यज्ञोंको 'क्रतु' कहते हैं और देवपूजा, बलिवैश्वदेव, अतिथि संतर्पण, प्राणायाम, जप आदि स्मार्त यज्ञ हैं। निःस्वार्थ भावसे ईश्वरकी प्रीति अथवा समाजको सुख-वृद्धिके लिये जो भी कर्म किया जाय वही यज्ञ है। इस श्लोकमें यज्ञसे केवल ऐसे ही यज्ञका मतलब है जो किसी फलाशासे न किया जाय—ईश्वरार्पण बुद्धिसे लोकसंग्रह अर्थात् समाजके धर्मकी

१—स्वधर्मानुमोदित कर्म।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

रक्षा और सुखकी वृद्धिके लिये किया जाय । सब मनुष्य संसार-में जो कुछ काम करते हैं वे ऐसे ही काम हैं जो यज्ञ नहीं हैं अर्थात् फल विशेषकी इच्छासे किये जाते हैं और इस इच्छासे ही यह सारा संसार बंधा हुआ है। परन्तु यज्ञ अर्थात् फलाशा-रहित और ईश्वरार्पणबुद्धिसे युक्त कर्मसे कोई बांधा नहीं जाता, क्योंकि उसका मन उसमें अटकता ही नहीं । "यज्ञो वै विष्णुः" अर्थात् यज्ञ स्वयं विष्णु भगवान हैं जिनसे संसारका पालन पोषण होता है और जहां कहीं निःस्वार्थ भावसे लोकसंग्राहक कर्म होता है वहां उसमें ईश्वरका ही वास है । इस संसारका उत्पन्न होना भी यज्ञ है, इसकी स्थिति और इसका लय भी यज्ञ ही है। इस सृष्टिके चलानेके लिये अव्यक्त प्रकृतिसे स्थूलतम प्रकृतितक जो कर्म हो रहा है अथवा अक्षर परमात्मासे लेकर प्रकृतिके विस्तार और पर्जन्य, अन्न तथा प्राणियोंके अन्नमय शरीरके पोषणतक परंपरासे प्रकृतिका जो कुछ कार्य होता है वह एक विराट् यज्ञ-चक्र ही है। यज्ञका अर्थ इतना व्यापक है पर उसमें मुख्य बात यही देखनेमें आती है कि लोकसंग्रहार्थ अथवा ईश्वर-प्रीत्यर्थ निःस्वार्थ भावसे होनेवाले कर्मको ही यहां यज्ञ कहा गया है।]

(१०) प्रजापति (ब्रह्मा)ने यज्ञके साथ प्रजा उत्पन्न करके कहा कि इससे तुम लोग खूब फलो फूलो और यह तुम्हारी सब कामनाएं पूर्ण करे।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

(११) इस यज्ञके द्वारा देवताओंको संतुष्ट करो; और देवता तुम्हारा कल्याण करें। इस प्रकार एक दूसरेका संतोष साधन कर आत्यन्तिक सुख प्राप्त करो।

(१२) तुम्हारे यज्ञसे सन्तुष्ट होकर देवता तुम्हारी कामनाएं पूरी करेंगे, परन्तु देवताओंके दिये दानका जो विना उनको भोग लगाये स्वयं भोग करता है वह चोर है।

[चोर क्यों कहा है?—यह भाव दरसानेके लिये कि भोगके देनेवाले तो देवता हैं अर्थात् उस भोगकी वस्तुके मालिक तो देवता हैं और उन्हें पूछे विना ही अथवा उनका स्मरणतक न रखकर जो मनुष्य उस भोगको भोगता है वह मालिकसे पूछे विना ही उसकी वस्तु उठा ले जाता है अर्थात् चोरी करता है। यह एक बात हुई; दूसरी बात यह है कि ये जो भोग्य पदार्थ अर्थात् अन्नादि हैं ये समस्त प्राणियोंके लिये हैं, केवल विशेष व्यक्तिके लिये नहीं; और इसलिये देवताओंने जिनके लिये ये भोग निर्माण कराये उनके पास इनके पहुंचनेकी कोई व्यवस्था न कर बीचमें स्वयं ही उन्हें हड़प जानेकी बुद्धि चोरीकी बुद्धि है।]

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

(१३) यज्ञ करके बाकी बचा हुआ भाग जो लोग ग्रहण करते हैं वे सब पापोंसे मुक्त होते हैं। और जो लोग अपने ही लिये रसोई बनाते हैं वे पाप भक्षण करते हैं।

[इस श्लोकमें यज्ञ करके बाकी बचा हुआ भाग ग्रहण करनेका उपदेश देकर अपने ही लिये रसोई बनानेको पाप भक्षण करना बताकर श्रीकृष्ण भगवानने नित्य करनेके पंचमहायज्ञोंका उपदेश दिया है। इन यज्ञोंका कितना महत्व है और प्रत्येक गृहस्थके लिये इनका पालन कितना आवश्यक है यह सबसे पहले इसीसे मालूम हो जाता है कि ये यज्ञ महायज्ञ कहलाते हैं। ये पांच यज्ञ इस प्रकार हैं—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

अर्थात्—नित्य हम अध्ययन करके जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह हम दूसरोंको भी दान करें। यह ब्रह्मयज्ञ है। अवश्य ही ब्रह्मसम्बन्धी ज्ञानके ही दानका यह विधान है। हम जिनके सन्तान हैं अर्थात् हमारी जो पूर्वपरंपरा है जो कल्पारम्भमें उत्पन्न होनेवाले सप्तर्षियोंसे आरंभ हुई और इस प्रकार सप्तर्षियोंसे लेकर हमारे पितातक जो हमारे पितर हो गये उनका भक्तिपूर्वक नामस्मरण करके उनके नामपर तर्पण करके उसके द्वारा

उनकी तृप्ति साधन करना पितृयज्ञ है। आदित्यलोकसे ही इस भूमिपर जलकी वृष्टि होती है और उसीसे अन्न उत्पन्न होता है और उस अन्नसे ही प्राणियोंका पालनपोषण होता है। इसी प्रकार प्रकृतिके शासनके भिन्न भिन्न कार्योंके जो भिन्न भिन्न विभाग हैं उनके अधिष्ठाता देवगण जिन्हें विश्वेदेव कहते हैं, इस लोकका धारण किया करते हैं, यह जानकर उन देवताओंका हवन द्वारा पूजन करना चाहिये। हवन द्वारा यह देवपूजन ही देवयज्ञ है। हवनसे किस प्रकार क्या होता है इसके विषयमें भगवान मनुकी स्मृति इस प्रकार है—

"अग्नौप्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टि र्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अर्थात् अग्निमें सम्यक् प्रकारसे जो आहुति दी जाती है वह आदित्यलोकमें पहुंचती है। आदित्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न और फिर अन्नसे प्रजा होती है। यह देवयज्ञ है। हम अन्न भक्षण करते हैं। पर अन्न हमारे लिये ही नहीं है—सबके लिये है—प्राणिमात्रके लिये है, और अन्नाभावसे जो दुःख हमें होता है अथवा अन्नभक्षणसे जो सुख होता है वह सुखदुःख सबके पीछे लगा हुआ है। इसलिये प्रत्येक गृहस्थका यह कर्तव्य है कि वह सबको देकर तब खाय—सबका मतलब यह है कि अपनेको जहांतक मालूम है वहांतक कोई प्राणी भूखा न रहे—केवल मनुष्य ही नहीं, चूंटि आदि कृमिकीटसे लेकर पशु, पक्षी और

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

मनुष्य सभीको अपने आहारमेंसे भाग बांट दे। यह बलिकर्म अथवा भूतयज्ञ है। ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और भूतयज्ञके पश्चात् नृयज्ञ है जिसका अर्थ है अतिथिपूजन। भोजन करनेके पूर्व जो कोई अतिथि आ जाय अथवा किसी अतिथिके न आनेपर गोदोहनकालपर्यंत अतिथिकी प्रतीक्षा करके और द्वारपर खड़े होकर ऐसे अतिथिको ढूंढ़कर उसे भोजन कराना चाहिये। अतिथि किसी जातिका हो उसे भोजन कराये बिना स्वयं आहार कर लेना "पाप भक्षण" करनेके समान है। अतिथि चाहे किसी जातिका हो, धनी हो, निर्धन हो, विद्वान हो, मूर्ख हो, वह सत्कारके योग्य है और सत्कारपूर्वक ही उसे भोजनादिसे संतुष्ट करनेका नियम है। यह अतिथियज्ञ है। इस प्रकार ये पंच महायज्ञ हैं और नित्य इन्हें यथाविधि सम्पन्न करके तब गृहस्थ भोजन करे। यज्ञ करके बाकी बचा हुआ ग्रहण करनेका यही अर्थ है। यज्ञ करके बाकी बचे हुए इस भाग अर्थात् यज्ञशिष्टांशको अमृत कहते हैं। इसके विपरीत जो भोजन है उसे भगवानने पाप कहा है।]

(१४) अन्नसे ही प्राणी उत्पन्न होते हैं। और अन्न वृष्टिसे पैदा होता है। वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मसे होता है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

(१५) कर्म ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ जानो और ब्रह्म अक्षर (परमात्मा) से। इस प्रकार सर्वव्यापी जो ब्रह्म है वह सब यज्ञोंमें सदा वर्त्तमान रहता है।

[यहां "ब्रह्म" शब्दके अर्थके विषयमें भाष्यकारोंमें मतभेद हैं। भगवान शंकराचार्य और उनके अनुगामी सब टीकाकारोंने "ब्रह्म" शब्दका अर्थ 'वेद' किया है। पूज्यपाद श्रीरामानुजाचार्यने इसका अर्थ किया है, 'प्रकृति'। लोकमान्य तिलकने भी यही शेषोक्त अर्थ ग्रहण किया है। दोनों ही अर्थ ठीक घटते हैं। "प्रकृति" अर्थ करनेसे कुछ सरलता होती है और 'वेद' कहनेसे कुछ कठिनता होती है, इतना ही अन्तर है। भगवान श्रीकृष्णने स्वयं किस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग किया है इसकी जांच यदि गीताके ही श्लोकोंपरसे की जाय तो इसी श्लोककी दूसरी पंक्तिमें ब्रह्म शब्द आया है और वहां उसका अर्थ ब्रह्म याने अक्षर परमात्मा ही है—वेद नहीं। अन्यत्र भी वेदवाची ब्रह्म शब्द गीतामें प्रयुक्त नहीं है। इसलिये 'प्रकृति'अर्थ करनेमें ही अधिक सुभीता है और ऐसा अर्थ करनेसे पारिभाषिक शब्दोंके अर्थोंका झमेला नहीं रहता और सांप्रदायिक संस्कारोंकी तत्त्व-मीमांसा की भी आवश्यकता नहीं रहती। अथवा ऐसा भी अर्थ कर सकते हैं कि ब्रह्मसे याने प्रकृति या त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके प्रतिपादक कर्म उत्पन्न हुआ। और यही अर्थ हमें ठीक जंचता है। अक्षर

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामोमोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

परमात्माकी सत्ता ही प्रकृतिका कारण है और त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका धर्म है--साम्यावस्थाभंगपूर्वक विस्तार। पर विस्तारका जो कर्म है उस कर्मका ज्ञान उसके पूर्व रहता ही है और ज्ञानको वेद कहते हैं। इस प्रकार प्रकृति और उस प्रकृतिके प्रतिपादक वेदवाच्य ज्ञान दोनोंका मूलतः एक ही अर्थ हो जाता है।

—अक्षर परमात्मासे मूल प्रकृति अथवा मूलप्रकृतिधर्मका ज्ञान वेद उत्पन्न हुआ। मूल प्रकृति अथवा वेदसे कर्म आरम्भ हुआ। यह कर्म यज्ञ ही हुआ, क्योंकि इस कर्ममें किसीका कुछ स्वार्थ अथवा अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका हेतु नहीं था। इस यज्ञसे सारी सृष्टि हुई और इसी यज्ञसे अखिल ब्रह्माण्डका धारण पोषण होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यज्ञसे ही अखिल ब्रह्माण्ड स्थिर रहता है और इसे स्थिर रखनेका यज्ञ स्वयं परब्रह्म परमात्मा कर रहा है। यह सृष्टिचक्र जो है वह परमात्माका ही यज्ञचक्र है और सबका कर्तव्य यही है कि इस यज्ञचक्रकी गतिके पीछे पीछे चलें अर्थात् संसारमें रह कर यज्ञ करें जिससे तीनों लोकोंका धारण हो। यज्ञकर्म त्याग करना इस यज्ञचक्रकी गतिको रोकनेका असाध्य साधन करनेकासा और सृष्टिकर्त्ताके उद्देश्यके विपरीत कार्य है।]

(१६) इस प्रकार यज्ञका जो चक्र चलाया गया है उसके पीछे पीछे जो नहीं चलता वह व्यर्थ ही जीता है—वह इन्द्रियोंके

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

वशमें रहता हुआ पापका भागी होता है।

(१७) जो आत्मामें ही रत, तृप्त और संतुष्ट है उस मनुष्यके लिये कोई कार्य हो करना बाकी नहीं है।

(१८) वह कोई कार्य करे अथवा न करे उसकी कोई लाभ-हानि नहीं। इस संसारमें उसका कोई स्वार्थ नहीं है।

(१९) इसलिये हे अर्जुन! तुम सदा असक्त(निःसङ्ग)होकर—इच्छा छोड़कर—कर्त्तव्य कर्म अच्छी तरह करो। इस तरह असक्त होकर जो कर्म करता है वह परम पदको प्राप्त करता है।

(२०) कर्मसे ही जनकादिक[1]ने सिद्धि पायी है। लोक-संग्रह[2]को देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना चाहिये।

---

१ जनक परम कर्मयोगी राजा थे। राज्य और सब प्रकारका वैभव रहते हुए भी उन्हें उसका यत्किंचित् भी मोह नहीं था। केवल कर्त्तव्य पालनके लिये ही वे राजसिंहासनपर बैठकर राज करते थे। राज्याधिकार और वैभवके मोहकी बात तो यह है कि वे स्वयं कहा करते थे कि, 'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन' मिथिला राजधानी जल जाय तो उससे मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ सकता।

२ लोकसंग्रह—लोक अर्थात् प्राणी अथवा तीनों लोक, इनका संग्रह अर्थात् सुस्थिति—धारण पोषण इत्यादि।

[लोकसंग्रहका अर्थ बहुत गूढ़ है। सरल अर्थ तो संसारमें रहनेवाले मनुष्योंको अधर्म और दुःखसे छुड़ाकर धर्म-प्रवृत्त और सुखी करना है। परन्तु धर्म क्या है—वह कौनसी विधि है जिससे संसारका और इस अखिल ब्रह्मांडका धारण होता है, इसका जब विचार करते हैं तो लोकसंग्रहका अर्थ और भी व्यापक करके बतलानेकी आवश्यकता होती है और लोकसंग्रह इन पदोंसे चाहे हम इस संसारके संग्रहका अर्थ ग्रहण करें अथवा अन्य लोकभी उसमें सम्मिलित करें, दोनोंका तात्पर्य एक ही हो जाता है।

—लोक अर्थात् भूः भुवः स्वः तीनों लोक अथवा स्वर्ग, मर्त्य, पाताल या देवलोक, पितृलोक, भूलोक आदि। इन सब लोकों-का धारण पोषण करनेका नाम ही लोकसंग्रह है। इन सब लोकोंका धारण करनेवाला जो कर्म है उसी कर्मका उपदेश है और इसलिये इसके पूर्वके श्लोकोंमें यज्ञकी उत्पत्ति बताकर दे-वताओंको तृप्त करने और यज्ञ करके सब लोकोंको तृप्त करनेका उपदेश दिया गया है, और यज्ञचक्रका वर्णन करके ब्रह्मलोक अथवा सत्यलोकसे भूलोक पर्यंत किस प्रकार सब लोक परस्पर मिले हुए और एक दूसरेके आधारपर अवस्थित हैं इसका संकेत किया गया है। इस भूलोकमें हम लोग रहते हैं, इस-लिये सर्व प्रथम इसी लोकके 'संग्रह' का विचार करें। संग्रह अर्थात् सुस्थितिका संरक्षण और प्राणियोंकी उन्मार्ग प्रवृत्तिका निवारण। इसका अर्थ हुआ स्वधर्मानुष्ठान। सब लोग स्वधर्मा-

नुष्ठान करें। समाज-संचालनका कार्य धर्मकी आज्ञाके अनुसार हो और सब लोग सुखी हों। इसके लिये सब प्रकारके नित्य नैमित्तिक कर्मोंकी व्यवस्था है और इसमें 'समाजसेवा' 'देश-सेवा' आदि सब प्रकारके समाज-सुखसंवर्द्धक कार्योंका समावेश हो जाता है। परन्तु केवल मनुष्य समाजके सुखका साधन करनेसे ही इतिकर्त्तव्यता नहीं होती। भूलोकवासी अन्य सभी प्राणियोंकी सुस्थितिका संरक्षण करना भी स्वधर्मा-नुष्ठानके अन्तर्गत है और मानवेतर प्राणियोंके प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करनेके लिये ही भूतयज्ञकी व्यवस्था है। स्वधर्मा-नुष्ठानके अन्तर्गत वे सब बातें आ जाती हैं जिनके करनेसे लोकसंग्रह होता है। इस संग्रहको हम भूलोक-संग्रह कह सकते हैं। लोकसंग्रहका यह आदर्श स्वदेशसेवाके आदर्शसे कितना ऊंचा है! पर यह भी आर्य आदर्शका पूर्ण दर्शन नहीं है—आगे चलिये।

—हम इस भूलोकमें तो रहते ही हैं, परन्तु पितृलोकसे भी हमारा सम्बन्ध है, क्योंकि भूलोकमें रहनेवाले प्राणियोंके जो कुछ संस्कार हैं वे पितृपरंपरासे आये हुए हैं और यह पितृ-परंपरा कल्पके आरम्भमें ब्रह्मासे अथवा ब्रह्माके मानसपुत्रोंसे आरम्भ हुई और अबतक चली आती है और आगे भी ऐसे ही चलती रहेगी। इस पितृपरंपराका संरक्षण करना धर्म है, क्योंकि जैसे वृक्षकी शाखा अथवा फल वृक्षसे अलग नहीं हो सकता अथवा अलग होनेपर नष्ट होता है उसी प्रकार पितृ-

लोकका जो वृक्ष है उसके हम फल हैं, हम उस वृक्षसे अलग नहीं हो सकते अथवा हों तो नष्ट हो जायंगे। पितृलोकसे हमारा केवल रेतका ही सम्बन्ध नहीं है, बल्कि रेतके साथ उसके सम्पूर्ण संस्कारोंको लेकर ही हमारा जन्म हुआ है और पितरोंने जो कार्य आरम्भ किया वही हमें करना है और आगे हमारी सन्ततिको भी उसी कार्यको आगे बढ़ा ले जाना है। हमारी जो कुछ संस्कृति है, हमारा जो कुछ इतिहास है उसमें आत्मरूपसे पितर वास करते हैं। यह जो पितृपरंपरा है इसे कोई कैसे छोड़ सकता है और छोड़नेसे क्या परिणाम होगा? पितृलोकका भूलोकसे संबन्ध टूट जाना, पितरोंको गिराना और आप भी गिरना है, क्योंकि ये दोनों लोक एक दूसरेके आधार-पर अवस्थित हैं। इसीलिये पितृयज्ञ और श्राद्धतर्पणादिकी व्यवस्था है जिसका तात्पर्य यही है कि पितृलोकसे हमारा संबन्ध बना रहे और पितर हमारा उद्धार करें और हम भी उनकी कामनाएं पूरी करें। इसके बिना लोकसंग्रह पूर्ण नहीं होता। इसी प्रकार देवलोकसे भी हमारा संबन्ध है। इस अखिल ब्रह्माण्डमें जितने भी ग्रहमण्डल अथवा तारकापुंज दिखायी देते हैं इनका परस्पर भौतिक संबन्ध तो स्पष्ट ही देख पड़ता है और उससे यह मालूम होता है कि इन सब ग्रहोंकी गति एक दूसरेकी गतिसे ही नियमित होती है और आकाशस्थ ग्रह एक दूसरेसे नहीं टकराते। इसका कारण यही है कि ये "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ"के न्यायसे चलते हैं। यह भौतिक

संबन्ध तो हमें देख पड़ता है। और प्रत्येक भौतिक संबन्धके पीछे मानसिक संबन्ध रहता ही है, इसलिये ये सब लोक परस्परके कल्याणकी मनोभावनासे संबद्ध हैं ऐसा सिद्धान्त किया जा सकता है। इस सिद्धान्तसे देवलोक और भूलोकका परस्पर संबन्ध अनुमित होता है और इन ग्रहोंकी गति तथा अखिल ब्रह्माण्डमें होनेवाले दैवी अथवा प्राकृतिक कार्यों के पीछे देवताओंका अधिष्ठान मानना पड़ता है। इन्हीं देवताओंको व्यष्टिरूपसे विश्वदेव कहते हैं और इनके हमारे परस्पर संबंध-का स्मरण रखने तथा इनकी तृप्ति साधन करनेका अनुष्ठान करनेसे उस संबन्धकी रक्षा होती है और भूलोकसे देवलोकका संबन्ध बना रहता है। अग्निमें आहुति देनेसे वह सूर्य्यलोकमें पहुंचती है और सूर्यलोकसे भूलोकके धारणके निमित्त पर्जन्यकी व्यवस्था होती है। देवलोकके भिन्न भिन्न स्थानोंसे होनेवाले भूलो-कधारणनिमित्त कार्योंका यह एक दृष्टान्तमात्र है। और इस दृष्टान्तका यह अर्थ है कि आदित्यलोकसे ही पर्जन्यकी व्यवस्था होती है और यह बात स्पष्ट ही है कि समुद्रके जलकी भाप बनाकर फिर उसे भूलोकके उपकारार्थ वृष्टिके रूपमें भेजनेका काम सूर्यके ही प्रखर तेजके कारणसे होता हैं और इसके पीछे अवश्य ही कोई मानसिक शक्ति है। अग्निमें आहुति देनेसे किस तरह क्या होता है यह मर्यादित विकासवाली बुद्धि-से जानना बड़ा ही कठिन काम है पर इतना तो मालूम है कि अग्नि और आदित्य दोनोंही तेज हैं और अग्निके तेजको समर्पित

आहुति तेजरूपसे आदित्यको प्राप्त हो सकती है। पर इससे भी अधिक स्पष्ट मानसिक संबन्ध है और वह इस प्रकार कि आदित्यलोकके भौतिक प्रकाशके पीछे जो मानसिक शक्ति है वह मन्त्रपूत आहुतिके पीछेकी मन्त्रशक्ति अथवा मानसिक इच्छा ग्रहण करनेमें समर्थ है और इसलिये ग्रहण करती है। इस तरह यह ज्ञान होता है कि आदित्यलोकसे भी हमारा संबन्ध है, हम केवल जिस घरमें या जिस नगर अथवा देशमें रहते हैं वही सब कुछ नहीं है, प्रत्युत इस पृथ्वीके परे भी वह देवलोक है जिसका संबंध हमारे नित्य जीवनके साथ है और यह जाननेकी इच्छा होती है कि वह कैसा लोक है, वह अपना ही लोक है उसके दर्शन तो कर लें। इस तरह भूलोकसे देवलोकका संबन्ध बना रहता है। इसी प्रकार सत्यलोक अथवा ब्रह्मलोकसे भी हमारा संबन्ध है और उस संबन्धकी रक्षा करना धर्म है यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। इन तीनों लोकोंका आदि कारण सत्यस्वरूप ब्रह्म ही है और वही परमेश्वररूपसे इन लोकोंका संग्रह याने धारण पोषण करता है और इसलिये मूल प्रकृतिसे लेकर भूलोकके प्राणियोंतक लोकसंग्रहार्थ जो कुछ कर्म हो रहा है उसे वही कर रहा है। उसीने लोकसंग्रहका यह यज्ञ आरम्भ किया है और इसलिये मूल प्रकृतिकी विकृतिके कर्ममें अथवा उस कर्मरूप यज्ञमें, उस यज्ञसे होनेवाले पर्जन्यरूप यज्ञमें, पर्जन्यसे होनेवाले अन्नरूप यज्ञमें, अन्नसे होनेवाले प्राणिरूप यज्ञमें वही सर्वयज्ञेश्वर सच्चिदानन्द परमात्मा अवस्थित है—वही ब्रह्मलोक

है जहां उसका अवस्थान है। इस प्रकारलोकसंग्रहका अर्थ बहुत ही व्यापक है और इसी लोकसंग्रहके निमित्त—जो कि स्वयं भगवानका कार्य है—भगवान अर्जुनको उपदेश देते हैं कि कर्म त्याग मत करो—वह कर्म करो जिससे लोकसंग्रह हो। पूज्यपाद भगवान श्रीशंकराचार्यने लोकसंग्रहका अर्थ "लोकस्यो-न्मार्गप्रवृत्तिनिवारणम्" ऐसा किया है अर्थात् तीनों लोकोंके प्रति इस भूलोकका जो कर्तव्य है उस कर्तव्यके पथसे विचलित होकर यह लोक उन्मार्गगामी न हो—कुमार्गमें प्रवृत्त न हो—और तीनों लोकोंमें परस्पर संबन्ध जानकर सब लोग कर्तव्य पालन करें, इसकी व्यवस्था। इस व्यवस्थाके लिये भगवानको भी कर्म करना पड़ता है—तीनों लोकोंको नियमसे चलाना पड़ता है और उसी नियम—उसी नियतिचक्र या यज्ञचक्रको चलानेके लिये लोकसंग्रहका आदर्श भगवानने अर्जुनके सामने रखा है और ऐसा कर्म करनेका उपदेश दिया है जिससे लोक-संग्रह हो अर्थात् तीनों लोकोंके साथ इसका नियत संबन्ध बना रहे और यह सृष्टिचक्र चलता रहे। यदि कोई मनुष्य उन्मार्गगामी हो तो उससे क्या यह सृष्टिचक्र बंद हो जायगा? यदि कोई मनुष्य पितृलोक, देवलोक और भूलोकके प्रति अपना कर्त्तव्य पालन न करे तो क्या ये लोक नष्ट हो जायंगे? नहीं; यह बात नहीं है। पर क्यों नहीं है? इसका कारण यही है कि भगवान स्वयं ही इस सृष्टिके सूत्रधार हैं और इसकी सारी व्यवस्था वह स्वयं कर रहे हैं। पर हमारे सामने जब यह प्रश्न

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

आता है कि हम क्या करें तो भगवान यही उत्तर देते हैं कि हम जो कर रहे हैं वही तुम भी करो । नहीं तो पथभ्रष्ट होकर नष्ट हो जाओगे । हम लोकसंग्रह कर रहे हैं—तीनों लोकोंको धारण किये हुए हैं—तुम भी लोकसंग्रह करो–(त्रिलोकीकी शरणमें पहुंचनेका यही मार्ग है) । हम जैसा करते हैं वैसा तुम करो और तुम जैसा करोगे वेसा ही और लोग भी करेंगे और इस तरह तीनों लोक धारण करनेका मेरा कार्य होता रहेगा ।]

(२१) श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करते हैं, और सब लोग उसीका अनुकरण करते हैं । वह जिसे प्रमाण मानते हैं, लोग भी उसी-पर चलते हैं ।

(२२) तीनों लोकोंमें मेरे लिये कोई काम नहीं है ; कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो मुझे न मिली हो या जो मुझे प्राप्त करनी हो । फिर भी मैं कर्म करता हूं ।

(२३) यदि मैं तंद्रा (आलस) छोड़कर कर्म न करूं तो सभी मनुष्य मेरा अनुकरण करेंगे ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

(२४) यदि मैं कर्म न करूं तो ये लोक नष्ट भ्रष्ट हो जायंगे और इन प्रजाओंका नाश और संकर[1]का मैं ही कारण बनूंगा।

(२५) जिस प्रकार अज्ञानी लोग फलकी इच्छामें अटककर कर्म करते हैं उसी प्रकार हे भारत! विद्वानोंको लोकसंग्रहकी इच्छासे, निःसंग होकर कर्म करना चाहिये।

(२६) विद्वानको चाहिये कि स्वयं मुक्त होकर (योगपूर्वक) कर्म करता हुआ कर्मसंगी (कर्म फलकी इच्छामें अटके हुए) अज्ञानियोंका बुद्धिभेद न करे, प्रत्युत सब कर्मोंमें उन्हें उत्साहित करे।

---

१ संकर शब्दका अर्थ है—गड़बड़ होना या उलट पलट जाना। इन प्रजाओंका संकर हो जायगा याने कोई व्यवस्था न रह जायगी और नाश होगा। संकर शब्दका साधारणतः वर्णसंकर अर्थ होता है और यह अर्थ भी यहां लग सकता है; क्योंकि पहले अध्यायमें अर्जुनने यह आशंका प्रकट की है कि यदि मैं युद्ध करूंगा तो वर्णसङ्कर हो जायगा और इसका उत्तर इस श्लोकमें यह हो जाता है कि वर्णसङ्कर क्षत्रिय धर्मके पालनसे नहीं हो सकता बल्कि स्वकर्म छोड़ देनेसे ही उसका प्रचार होगा।

[बुद्धिभेदका अर्थ है, श्रद्धाभाव विचलित कर देना। किसी की ऐसी श्रद्धा हो कि अमुक कर्म करनेसे अमुक फल मिलेगा अथवा अमुक यज्ञ करके स्वर्गसुख मिलेगा और इसीसे ईश्वर प्रसन्न होगा तो उसकी श्रद्धा विचलित कोई न करे। वह जिस प्रकारसे भी ईश्वरकी उपासना करता हो करने दे, बल्कि स्वयं भी उसका साथ देकर उसी मार्गसे उसे और उन्नत अवस्थामें ले जाय; क्योंकि "श्रद्धामयोऽयंपुरुषः" "योयच्छ्रद्धः स एव सः" जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह होता है—उसकी श्रद्धा विचलित हो जानेसे, संभव है कि उसकी गति "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः" कीसी हो जाय। बुद्धिभेद न करनेसे मतलब श्रद्धा विचलित न करनेका ही है। बुद्धिभेदका यह मतलब नहीं है कि जो अज्ञानी है वह अज्ञानी ही बना रहे, प्रत्युत उसकी इस अवस्थामें उसकी ईश्वरविषयक अथवा धर्मविषयक जो कल्पना या श्रद्धा है उस कल्पना या श्रद्धाको विचलित न करके उसी श्रद्धाके अनुकूल उपायसे उसे उससे अधिक उन्नत अवस्थामें ले जानेका प्रयत्न करे। यह साधारण अर्थ हुआ। यहां बुद्धि-भेदका विशिष्ट अर्थ यही है कि यदि तुम कर्म करना छोड़ दोगे तो लोग भी यही समझेंगे कि कर्म छोड़ देना ही कल्याणका मार्ग है—उनका ऐसा समझना उनका बुद्धिभेद होना है—भ्रम या विकृत धारणा होना है! इसलिये उनका ऐसा बुद्धिभेद मत करो। यही नहीं, प्रत्युत उनसे सब कर्म कराओ; वे फला-कांक्षी होकर कर्म करेंगे, करने दो—कर्म तो करते हैं और

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जंते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन्नविचालयेत् ॥ २९ ॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

कर्मसे हो यह सृष्टिचक्र चल रहा है; इसलिये स्वयं कर्म करके सब लोगोंको भी कर्म करनेमें उत्साहित करो ।]

(२७) जितने काम होते हैं, सब प्रकृतिके गुणोंसे ही होते हैं। अहंकारसे जिसका ज्ञान ढका हुआ है वह यह समझता है कि मैं कर्त्ता हूं ।

(२८) गुण और कर्मके विभागोंका तत्व जाननेवाला पुरुष यह जानता है कि यह सब गुणोंका परस्पर व्यवहार है और यह जानता हुआ गुणोंके कर्मों में नहीं अटकता ।

(२९)प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हुए लोग गुण कर्मोंमें आसक्त होते हैं। ऐसे अज्ञ और मंद बुद्धिवालोंको ज्ञानी पुरुष विचलित न करे ।

(३०) अध्यात्मचित्त होकर अर्थात् चित्तको परमात्मामें लगाकर सब काम मुझे अर्पण करो और फलकी आशा छोड़, ममता और शोक मोह त्यागकर युद्ध करो ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावंतोऽनुसूयंतो मुच्यंते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥
येत्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥
इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपांथिनौ ॥ ३४ ॥

(३१) जो मनुष्य श्रद्धा और (दोष देखनेकी बुद्धि छोड़) शुद्धताके साथ मेरे इस उपदेशको सदा मानते हैं वे भी कर्मोंके बंधनोंसे छूटते हैं।

(३२) परन्तु जो मेरी इस शिक्षामें दोष देखते हुए इसे नहीं मानते, स्मरण रक्खो, उनका चित्त ठिकाने नहीं है, उनकी बुद्धि मारी गयी है और वे बड़े भारी मूर्ख हैं।

(३३) ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही कर्म करता है। सभी प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार चलते हैं। निग्रह क्या कर सकता है?

(३४) इन्द्रियोंका अपने अपने विषयके प्रति रागद्वेष* रहता है। इस रागद्वेषके अधीन न होना चाहिये, (क्योंकि) ये शत्रु हैं।

---

* सुन्दर वस्तु देखकर नेत्र प्रसन्न होते हैं, कुरूपको देखकर नेत्र अप्रसन्न होते हैं; सुस्वर गायन कानको अच्छा लगता है, कड़वी बात या कर्कश स्वर कानको बुरा

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

(३५) अपना धर्म 'हीन' भी हो तौभी वह दूसरेके 'अच्छे' धर्मसे अच्छा ही है। अपने धर्मकी रक्षा करते हुए मर जाना अच्छा है; पर दूसरेके धर्ममें बड़ा भय है।

[भाव यह है कि जिसका जो धर्म है वह उसीका पालन करे, दूसरेका धर्म ग्रहण करनेकी इच्छा न करे, चाहे अपने धर्मके पालनमें कुछ कठिनाई हो और दूसरेके धर्ममें वह कठिनाई न हो। किसीका धर्म 'हीन' नहीं हुआ करता, वह वैसा मालूम हो सकता है—इसीलिये इस श्लोकमें समझानेके सुभीतेके लिये 'हीन (विगुण)' कहा है। यहां अपने धर्म और पराये धर्मका चातुर्वर्ण्यव्यवस्थासे मतलब है अर्थात् चारों वर्ण अपना धर्म पालन करें—परधर्मकी इच्छा न करें। जो ब्राह्मण हैं वे अपनी आकाशवृत्तिसे घबराकर अपने धर्मको विगुण या हीन समझकर राजपाटके भोगके सुखसे युक्त क्षत्रियधर्मकी इच्छा न करें; क्योंकि ब्राह्मणकी प्रकृति ब्राह्मणधर्मके लिये ही है—ब्राह्मण-धर्म छोड़कर जो ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा अन्य किसी वर्णका धर्म

लगता है; सुगन्धसे नाकको प्रेम है, पर दुर्गन्धसे द्वेष है; इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंका भी है। जिस इन्द्रियका जो विषय है उसी विषयके प्रति उस इन्द्रियकी प्रीति अथवा द्वेष हुआ करता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि रागद्वेष इन्द्रिय और विषयके संयोगसे हुआ करता है उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। और आत्मासे भी उसका संबंध नहीं है।

ग्रहण करता है उसका पतन होता है। क्षत्रिय युद्धजन्य हिंसासे दुखी होकर अपने धर्मको विगुण या हीन समझकर शान्ति-संतोष समाधानके सुखसे युक्त ब्राह्मणधर्म ग्रहण करनेकी इच्छा न करे। जो क्षत्रिय ऐसा करता है उसका पतन होता है। वैश्य कृषि-गोरक्ष-वाणिज्यसे उकताकर कीर्तिकी अभिलाषासे क्षत्रिय अथवा ब्राह्मणधर्म ग्रहण करनेको इच्छा न करे। जो वैश्य ऐसा करता है उसका पतन होता है। शूद्र अपने परिचर्याधर्मको हीन समझकर धन-कीर्ति-मानसे युक्त अन्य धर्मोंको ग्रहण करनेकी इच्छा न करे। जो शूद्र ऐसा करता है उसका पतन होता है। चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाके अनुसार स्वधर्ममें मर जाना अच्छा है। इसका यही मतलब है कि अपने अपने धर्मका पालनकर लोकसंग्रहका कार्य करो जिसमें समाजकी व्यवस्था नष्ट भ्रष्ट न हो। जहां चातुर्वर्ण्यव्यवस्था प्रचलित नहीं है वहां भी लोग यह समझते हैं कि मनुष्यको अपनी प्रकृति, योग्यता और परिस्थितिके अनुसार अपना कर्त्तव्यकर्म अथवा वृत्ति निश्चित करनी चाहिये और उसीमें अन्ततक "अर्थं वा साधयामि देहं वा पातयामि"के सिद्धान्तसे लगे रहना चाहिये; यह नहीं कि आज एक व्यवसाय आरम्भ किया, उससे जी ऊब गया तब दूसरी वृत्तिका अवलम्बन करने लगे। व्यक्तिगत उन्नतिके साधनोंका अनुसन्धान करनेवाले एक विज्ञ ग्रन्थकारने प्रत्येक मनुष्यकी उन्नतिके साधनस्वरूप यह नियम बताया है कि जो मनुष्य जिस कामको कर रहा है वह उस कामको न छोड़े जबतक ऐसी अवस्था न

आ जाय कि उस कामको छोड़े विना दूसरी गति ही न हो। व्यक्तिगत उन्नतिकी जो बात है वही वर्णगत और समाजकी उन्नतिकी बात है। जहां व्यक्तिगत उन्नति ही आदर्श है, वहां चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाका महत्त्व लोग नहीं समझ सकते। पर जहांका आदर्श यह है कि—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥

सब सुखी हों; किसीको कोई क्लेश न हो; सबका मङ्गल हो, किसीको भी कोई दुःख न हो; और इसी सिद्धान्तपर समाजकी रचना हुई है, वहां प्रत्येक वर्णको अपनी वर्णगत उन्नतिका साधन करते हुए सम्पूर्ण समाजका मङ्गलसाधन करनेका ही प्राथमिक उपदेश है और इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि अपना धर्म मत छोड़ो; इससे लोकसंग्रह नहीं होगा। स्वधर्म-पालन परधर्मसे सर्वथा श्रेष्ठ है। स्वधर्ममें मर जाना अच्छा है, पर परधर्म भयावह है, क्योंकि वह प्रकृतिके विरुद्ध और समाजव्यवस्थाका विघातक है। जैसी प्रकृतिका जो मनुष्य होता है वैसी ही परिस्थितिमें वह जन्म लेता है। जन्म लेनेमें प्रत्येक मनुष्यका कुछ विशेष उद्देश्य होता है और जिस परिस्थितिमें जो मनुष्य जन्म लेता है वह परिस्थिति ही उसे उसके उद्देश्यकी पहचान करा सकती है, यदि वह जानना चाहे कि हमारे जन्मका उद्देश्य क्या है। इसलिये जहां चातुर्वर्ण्यव्यवस्था प्रचलित नहीं

है वहां भी अपनी जाति, कुल और परिस्थिति इन तीन बातोंका पूर्ण विचार करके मनुष्य अपना धर्म स्थिर कर सकता है और इस प्रकारसे जो धर्म, कर्त्तव्य, व्यवसाय निश्चित होता है वही उसका धर्म है और उसीके पालनमें उसे सदा तत्पर रहना चाहिये। उसी धर्मकी रक्षा करनेमें उसकी मृत्यु हो जाय तो यह मृत्यु भी धर्मान्तरसे अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि उससे उसकी जन्म-जन्मान्तरव्यापिनी कार्यपरंपरा नहीं टूटती और वह एक जन्म-की सिद्धिसे दूसरे जन्मके कार्यारंभमें पूरा लाभ उठाता है। यह केवल चातुर्वर्ण्यव्यवस्थागत धर्मके विषयमें ही नहीं, बल्कि सब देशोंमें सब समय सत्य है। धर्मान्तर इस जन्मजन्मातर-व्यापिनी कार्यपरंपराको तोड़कर मनुष्यके पतनका कारण होता है। यही इस श्लोकका भाव है और नित्यकी सामान्य व्यावहारिक बातोंसे भी यही सिद्धान्त इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है कि जो मनुष्य जिस समय जिस पदपर नियुक्त है, उस मनुष्यका कल्याण उस पदकी जिम्मेदारी निबाहनेमें ही है, चाहे वह पद किसी अन्य पदसे नीचा हो या ऊंचा, अथवा उसमें सुख कम हो या अधिक, क्योंकि सच्चा सुख और वास्तविक शक्ति पदमें नहीं प्रत्युत कर्त्तव्यपालनमें है—स्वधर्मपालनमें है और स्वधर्म ही कामधेनु है जिससे श्रेयस् और प्रेयस्की प्राप्ति होती है। सेनाका सैनिक सेनापतिकी आज्ञा मानकर रणमें मृत्युके सामने खड़ा होना हीन कर्म समझ बैठे और सेना-पति बननेकी इच्छा करे अथवा शत्रुकी विजयके भयसे सेनाप-

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

तित्व त्यागकर सेनापति स्वयं सैनिक बननेकी इच्छा करे तो जो परिणाम उस सेनाको भोगना पड़ेगा वही परिणाम उस समाजको भोगना पड़ता है जिस समाजके सब वर्ण अपने अपने धर्मको त्यागकर अन्य वर्णोंका धर्म ग्रहण कर लेते हैं। इसलिये समाजसुव्यवस्थाके लिये—लोकसंग्रहके लिये यह आवश्यक है कि, सुखसे पालन करने योग्य परधर्मके अनुष्ठानकी अपेक्षा हीनसा प्रतीत होनेवाला स्वधर्म, कालका सामना करके भी, पुरुष पालन करे।]

(३६) अर्जुनने पूछा—हे वार्ष्णेय! पुरुषकी इच्छा न होनेपर भी जबर्दस्ती उससे पाप कौन कराता है?

(३७) श्रीकृष्ण भगवानने कहा—वह काम है, क्रोध है जो रजोगुणसे उत्पन्न होता है—जो जबर्दस्ती पुरुषसे पाप कराता है। यह बड़ा पेटू है—महापापी है। इस संसारमें इसे अपना बैरी जानो।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

(३८) जैसे धुंएसे अग्नि और धूलसे दर्पण, और गर्भकी झिल्लीसे बालक ढंका रहता है वैसे ही इस काम(इच्छा)से यह सब ज्ञान ढंका हुआ है ।

(३९) यह कभी तृप्त न होनेवाली कामरूप अग्नि[1] जो ज्ञानियोंकी नित्य शत्रु है उसीसे यह ज्ञान ढंका हुआ रहता है ।

(४०) इसके रहनेका ठिकाना इन्द्रिय, मन और बुद्धि है । इन्हींके द्वारा यह काम ज्ञानपर पर्दा डालकर, देह धारण किये हुए इस आत्माको मोहित कर लेता है ।

---

१ ययाति राजाने कामवासनाकी तृप्तिके लिये वृद्धावस्थामें जवानी मोल ली थी । पर अन्तमें उसको यह अनुभव हुआ कि—

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अर्थात् "भोग विलासमें चूर रहनेसे भोगविलासकी इच्छा कभी तृप्त नहीं होती । जिस प्रकार अग्निकी ज्वाला भक्ष्य पदार्थ पाकर और भी बढ़ती है, उसी प्रकार यह कामवासना भी बढ़ती ही जाती है ।"

तस्मात्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥
इंद्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० कर्मयोगो नाम
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(४१) इसलिये हे अर्जुन, सबसे पहले उन इन्द्रियोंको अपने वशमें लाकर ज्ञानविज्ञान[1]का नाश करनेवाले इस पापी कामको मारो ।

(४२) इन्द्रियां (शरीरके) परे हैं, इनके परे मन है और मनके परे बुद्धि है और बुद्धिके भी परे वह आत्मा है ।

(४३) इस प्रकार हे अर्जुन ! उस आत्माको बुद्धिके परे जानकर और मनको स्थिर करके उस प्रबल शत्रु कामको मारो ।

(जब कर्ममें कर्मकी अपेक्षा बुद्धि—समत्वबुद्धि या ज्ञान-ही श्रेष्ठ है तो उसी ज्ञानसे ही संतुष्ट क्यों न रहें, कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है ? अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें भगवानने

१—ज्ञान अर्थात् शास्त्रोंके अध्ययन अथवा आचार्यके उपदेशसे प्राप्त अप्रत्यक्ष ज्ञान । विज्ञान अर्थात् ज्ञानका प्रत्यक्ष अनुभव ।

बताया है कि दो प्रकारकी अवस्थाका जो पहले मैंने वर्णन किया है उसमें एक ज्ञानयोगकी अवस्था है और दूसरी कर्मयोगकी। परन्तु कर्म छोड़ देनेसे ही कोई नैष्कर्म्य नहीं प्राप्त कर सकता- एक पल भी कोई कर्मके बिना नहीं ठहर सकता। ऊपरसे कर्म छोड़ दिया और मन ही मन विषयका ध्यान किया तो यह मिथ्याचार है। इससे अच्छा यह है कि इंद्रियोंको अपने वशमें रखकर कर्म करे। अकर्मसे कर्मही श्रेष्ठ है—अकर्मसे शरीरका निर्वाह भी नहीं हो सकता। (१—८) कर्मसे जीव बद्ध होता है यह जो कहते हैं सो उन कर्मोंके बारेमें है जो कर्म यज्ञ नहीं हैं। यज्ञ क्या है ? परब्रह्म परमेश्वरसे लेकर इस भूलोकके प्राणि- योंतक जो आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कर्म हो रहे हैं वे सब यज्ञ हैं। यह यज्ञ ब्रह्मासे ही आरम्भ हुआ है। इसी यज्ञसे अखिल विश्व ब्रह्माण्डका और इस भूलोकका धारण पोषण होता है। इसी विश्वब्रह्माण्डको चलानेके लिये स्वयं परब्रह्म परमेश्वर कर्म करता है। यदि वह कर्म न करे तो सारे लोक नष्ट भ्रष्ट हो जायं। इसलिये ईश्वरने ही यह यज्ञ चक्र चलाया है जिसमें सब लोग इस यज्ञचक्रके पीछे चलें और संसारकी स्थिति बनी रहे। संसारकी सुस्थिति और सुखके संरक्षणके निमित्त फलाशा छोड़कर कर्म करो। इसका नाम लोकसंग्रह है और लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेका उपदेश दिया गया है। (९—२५) यदि श्रेष्ठ पुरुष कर्म करना छोड़ दें तो और लोग भी छोड़ देंगे—फिर संसार रहेगा कहां ? इसलिये

अज्ञानियोंका बुद्धिभेद कोई न करे; यह बतलाकर फिर इस बातका विवेचन किया गया है कि कर्म होता किस तरहसे है। क्या आत्मा कर्म करता है? क्या रागद्वेष आत्मामें होता है? नहीं; आत्मा अकर्त्ता है। प्रकृतिके तीन गुण ही तो कर्म करते हैं और सुखदुःखके उत्पादक रागद्वेष भी विषयोंके प्रति इन्द्रियोंके ही होते हैं, आत्माके नहीं। इसलिये रागद्वेष जब आत्माका धर्म नहीं है, तब उसे त्याग देना चाहिये। (२६–३४) (पर कर्म करना भी तो उसका धर्म नहीं है; फिर कर्म क्यों किया जाय? इसका उत्तर यह है कि आत्मा अपनी मायासे ही प्रकृतिद्वारा यह कर्म कराता है और प्रकृतिद्वारा इस तरह कर्म कराना और यह सृष्टिचक्र चलाना ही जगन्नियंताका उद्देश्य है। इसलिये कर्म करना चाहिये।) जब यह सिद्धान्त हुआ कि कर्म करना ही श्रेष्ठ है तब यह प्रश्न उठता है कि कौन कर्म करना चाहिये। उसका उत्तर देते हैं—स्वधर्म पालन करना चाहिये। इसके उपरान्त कर्म जिसके कारणसे बन्धक होता है उस कामका वर्णन करते हुए यह बतलाते हैं कि इसी काम या इच्छाके कारणसे संसार अन्धकारमें है; यह काम रजोगुणसे उत्पन्न होता है और इसीसे क्रोधादि विकार उत्पन्न होकर मनुष्यको मूढ़ बनाये रखते हैं। इसलिये इन्द्रियोंके परे मन, मनसे परे बुद्धि और बुद्धिके परे भी जो आत्मा है उसको जाननेके लिये कामको शत्रु मानकर उसे मार डालना होगा।

इस प्रकार इस अध्यायमें दो बातें हुईं—

(१) लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये। अर्थात् किसी प्रकारकी वासना चित्तमें न रखकर केवल इस उद्देश्यसे कि लोकसंग्रह हो, निष्काम कर्म करना चाहिये, और

(२) वासनारहित होकर इन्द्रियां, मन और बुद्धिके परे जो आत्मा है उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

कर्म और ज्ञान दोनों एक साथ किस प्रकार होता है इसका विवेचन अगले अध्यायमें किया जायगा।]

तीसरा अध्याय समाप्त

[यह अविनाशी योग अर्थात् जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञान और संसारका भरण पोषण होता है, भगवानने सबसे पहले सूर्यसे कहा और सूर्यने अपने पुत्र मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुसे और आगे वर्णन आवेगा कि इस प्रकार परंपरासे यह योग राजर्षियोंने जाना। अस्तु; इसमें सूर्य-मनु-इक्ष्वाकु, यह जो परंपरा दी हुई है यह विशेष रूपसे ध्यानमें रखने योग्य है, क्योंकि इसमें ऐसा मालूम होता है कि भगवानने सृष्टिविकासकी तीन विशेष अवस्थाएं सूचित की हैं। अव्यक्त प्रकृतिका प्रथम दृष्टिगोचर व्यक्तरूप सूर्य है। अखिल विश्वव्यापी सूर्यपिंडसे ही नक्षत्र, चन्द्र, पृथ्वी आदि द्रव्य क्रमशः निर्माण हुए। इस प्रकार यह योग सर्वप्रथम सृष्टिकी अव्यक्त अवस्थासे व्यक्त अवस्था होनेके समय बताया गया। पहली विशेष अवस्था है—अव्यक्त सृष्टिकी व्यक्तावस्था। दूसरी अवस्था मनुकी है। मनु ही आदि पुरुष हैं—इन्हींसे, आगे सब प्रजा हुई है और इसलिये मनुको प्रजापति भी कहते हैं। मनु ही धर्मशास्त्रवक्ता हैं। इन्होंने धर्माधर्मका ज्ञान प्रकटकर समाजव्यवस्था की। अर्थात् दूसरी

---

१ यहां स्पष्ट ही मनुसे वैवस्वत मनुका मतलब है, क्योंकि इक्ष्वाकु वैवस्वत मनुके ही पुत्र हैं। लोग ऐसी शंका कर सकते हैं कि सब कल्पोंमें मिलाकर जब १४ मनु होते हैं और पहले मनु जब स्वारोचिष हैं तब स्वारोचिष मनु न कह कर वैवस्वत मनु ही क्यों कहा। इसका उत्तर यह है कि इस समय वैवस्वत मन्वन्तर ही चल रहा है और इसी मन्वन्तरको लक्ष्य करके वैवस्वत मनुका नाम लिया गया है, अन्यथा बात एक ही है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अवस्था मानवसमाजकी रचनाका ज्ञान प्रकट होनेकी अवस्था है। तीसरी अवस्था इक्ष्वाकुकी है। यह सूर्यवंशके आदि राजा हैं। मानव राज्यव्यवस्थाका प्रवर्त्तन होनेपर सबसे पहले यही राजा हुए अर्थात् मानव समाजमें धर्ममूलक राज्यशासनके प्रत्यक्ष प्रवर्त्तनकी यह अवस्था है। इसलिये ये तीन अवस्थाएं ध्यानमें रखने योग्य हैं।]

(२) इस प्रकार परम्परासे प्राप्त यह योग राजर्षियोंने जाना। हे परन्तप! परन्तु फिर दीर्घ कालके पश्चात् यह योग यहां नष्ट हो गया (अर्थात् इसे लोग भूल गये)।

(३) वही प्राचीन योग मैंने आज तुम्हें बताया है। तुम मेरे भक्त और मित्र हो, इसलिये यह रहस्य मैंने तुम्हें बता दिया।

(अर्जुनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि विवस्वत या मनुको हुए सहस्रों वर्ष हो गये और अभीके इन कृष्णने उन्हें यह ज्ञान कैसे बताया और क्या किया! इसलिये वह पूछता है—)

(४) आपका जन्म तो अभी हुआ है, सूर्य तो बहुत

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

पहलेसे हैं । फिर मैं कैसे जानूं कि आपने ही पहले यह (योग) कहा था ?

(५) श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा :—हे अर्जुन ! मेरे अनेक जन्म हुए हैं और तुम्हारे भी । उन सबको मैं जानता हूं पर हे परन्तप ! तुम उन्हें नहीं जानते ।

(६) मैं अजन्मा हूं, अव्यय हूं और सब भूतोंका स्वामी भी हूं । तोभी मैं अपनी मायासे अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर उत्पन्न हुआ करता हूं ।

(७) हे भारत ! जब जब धर्मकी हानि होती है और अधर्मकी वृद्धि, तब तब मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूं (अवतार धारण करता हूं) ।

(८) धर्मात्माओंको बचाने और पापियोंको मिटाने तथा

धर्मको स्थापन करनेके लिये मैं युग युग अवतीर्ण हुआ करता हूं।[१]

[ये दो श्लोक बड़े ही दिव्य हैं। इनमें बड़ी दिव्य आशा भरी हुई है और असुर अभिमानी अधर्मियोंके अधर्मसे अत्यंत पीड़ित धर्मात्मा पुरुष बारंबार इन श्लोकोंका पाठ किया और सुनाया करते हैं; क्योंकि इनमें भगवानकी जो वाणी और प्रतिज्ञा है उसीका उन्हें भरोसा रहता है; और जिस प्रकार दुश्शासनने दुर्योधनकी निर्लज्ज सभामें जब सती द्रौपदीका चीर हरण करनेका अत्यंन्त नीच प्रयत्न किया था उस समय जिस प्रकार द्रौपदीकी गुहार सुनकर भगवान अवतीर्ण हुए हैं;

१ गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने 'रामचरितमानस' में इन ७ वें और ८ वें श्लोकका इस प्रकार बड़ा ही सुन्दर भावानुवाद किया है—

जब जब होय धर्मकी हानी।
बाढ़ैं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाय नहीं बरनी।
सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

दोहा— असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु
जग विस्तारहिं विसद जस राम जन्म कर हेतु॥

—(तुलसीकृत रामायण बालकाण्ड दोहा १२०)

उसी प्रकार वे साधु पुरुषोंकी लाज रखने, उनकी रक्षा करने तथा असुर अभिमानियोंको मिटाकर फिरसे धर्मकी संस्थापना करनेके लिये, जब जब आवश्यकता होगी, अवतीर्ण होंगे। इसीकी उन्हें दृढ़ आशा रहती है। भगवानकी यह प्रतिज्ञा अक्षर अक्षर सत्य है इसके कहनेकी कुछ आवश्यकता नहीं। पर इस प्रतिज्ञाका अर्थ ठीक तरहसे समझना होगा। इसका अर्थ केवल यह नहीं है कि अधर्मका बल बढ़ना ही ईश्वरका अवतार होनेके लिये बस है। अधर्म जब धर्मको दबाता है तब अधर्मको दबाकर धर्मको बढ़ानेके लिये ईश्वरावतारकी आवश्यकता होती है, यह ठीक है। पर यह अवतार कब होता है? भगवान कहते हैं, "परित्राणाय साधूनां" धर्मात्माओंकी रक्षाके लिये मैं आया करता हूं; अर्थात् अधर्मके विरुद्ध जब प्रजा खड़ी हो जाती है और गौका रूप धारण कर अर्थात् सात्विक बनकर ईश्वरकी शरण लेती है तब ईश्वरका अवतार होता है। ईश्वरका अवतार होनेके पूर्व धर्मका उसी प्रकार बल बढ़ने लग जाता है--धर्म सूर्यकी उषा आकर उनके हृदयको सूचना देने लगती है और उनकी उपासनाके लिये लोग तैयार होजाते हैं। ईश्वरावतारको "भक्तजनप्रारब्धाकृष्ट" कहा है अर्थात् ईश्वर अपने भक्तोंके प्रारब्धसे ही खिंचकर इस लोकमें आता और मानव देहमें अपनी लीला दिखा जाता है। इसलिये इन दोनों श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि सब लोग स्वधर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त और तत्पर हों।]

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

(९) जो पुरुष मेरे दिव्य जन्म और कर्मको ठीक ठीक जानता है वह यह देह छोड़ देनेपर फिरसे जन्म नहीं प्राप्त करता—वह मुझे प्राप्त करता है।

[भगवानका जन्म और कर्म दिव्य है अर्थात् प्राकृत जनोंके समान नहीं है। प्राकृत जनोंका जो कर्म होता है वह प्रकृतिके वशमें रहकर होता है और इसीलिये ऐसे जन्म कर्मको प्राकृत जन्म कर्म कहते हैं। इसके विपरीत दिव्य जन्म कर्म वह है जो प्रकृतिके वशमें रहकर नहीं, प्रत्युत प्रकृतिको अपने वशमें रखकर अपनी मायाशक्तिसे, ग्रहण किया जाता है। मायाशक्ति वही दिव्य शक्ति है जो प्रकृतिको चलाती है। वह मायाशक्ति क्या है, प्रकृतिको किस प्रकार अपने वशमें रखा जाता है यह जो जानता है और इस प्रकार अपने अनुभूत ज्ञानसे दिव्य जन्म कर्म-का रहस्य जान लेता है उसपर प्रकृतिका वस नहीं चलता, प्रकृति ही उसके वसमें आ जाती है। प्रकृतिसे बेवस होकर उसे, जहाँ प्रकृति उसे खींच ले जाय वहां, नहीं जाना पड़ता-प्रकृतिसे लाचार होकर फिरसे जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता; प्रत्युत प्रकृति जिसके वसमें आ गयी वही परमात्माको प्राप्त करता है। जो बात जन्मकी है वही कर्मकी। दिव्य कर्म वही है जो अपनी प्रकृतिमें स्वयं अधिष्ठित होकर अपनी माया मात्रसे—लोकसंग्रहार्थ—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥
ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

"परित्राणाय साधूनां" (धर्मात्माओंके संरक्षणार्थ) किया जाय। ऐसे दिव्य जन्म-कर्मके रहस्योंको जो तत्वतः जान लेता है उसके लिये और कोई बात जाननेकी नहीं रहती और वह ज्ञानस्वरूप होकर ज्ञानघन परमात्मामें ही मिल जाता है।]

(१०) (इस प्रकार) अनेक पुरुष, जिनका राग, भय और क्रोध छूट गया है वे मन्मय होकर मेरी उपासना करके ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे भावको प्राप्त हुए हैं।

(११) मेरी जो जैसी भक्ति करता है, वैसा ही फल मैं उसे देता हूं। हे पार्थ! सब मनुष्य सर्वथा मेरे मार्गपर चल रहे हैं (अर्थात् मेरी ओर ही आ रहे हैं)।

[आगे चलकर यह वर्णन आनेवाला है कि भक्त चार प्रकारके होते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। अर्थात् ये भक्त भिन्न भिन्न भावसे ही भगवानकी उपासना करते हैं। और जो जिस भावसे उपासना करता है उसी भावको वह प्राप्त करता है। आर्तको दुःखमोचन, जिज्ञासुको ज्ञान, अर्थार्थीको अर्थसिद्धि और ज्ञानीको परमात्मादर्शन—इस प्रकारसे जिसका जो हेतु है भगवान उसे सिद्ध कर देते हैं। परन्तु ये सभी प्रकारके भक्त

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

और अभक्त जा रहे हैं भगवानकी ओर ही, क्योंकि प्राणिमात्रका वही आदि और अन्तिम स्थान है ; कोई किसी मार्गसे जाता है, कोई किसी मार्गसे—पर जा रहे हैं सब भगवानके ही पास। जब भगवानके पास ही सब जा रहे हैं तो मार्गभेद क्यों होता है, इसके कारणका संकेत आगेके श्लोकमें किया है।]

(१२) इस लोकमें अपने कर्मोंकी सिद्धिके लिये लोग देवताओंकी पूजा करते हैं। मनुष्यलोकमें कर्मकी सिद्धि बहुत शीघ्र होती भी है।

[जो वस्तु जितनी मूल्यवान होती है वह उतने ही अधिक परिश्रम और देरसे मिलती है। सुवर्ण ढूँढ़ने जाइये तो कितने परिश्रम करने पड़ेंगे ! मिट्टीके लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। किसी आफिसका कोई कर्मचारी यदि अपना वेतन बढ़वाना चाहे तो उसे अपने अफसरकी ही पूजा—खुशामद—करनी पड़ती है। इसी प्रकार धन, पुत्र, दारा, अधिकार आदिकी कामनासे मनुष्य नाना प्रकार दैवी या मानवी अनुष्ठान किया करते हैं और इस तरह, इस जीवनको ही जीवनका शेष मानकर, भविष्यत्का विचार छोड़, जिन्हें थोड़ासा ही स्वार्थ साध लेना होता है, उन्हें बहुत परिश्रम नहीं करना पड़ता; उनका काम जल्द ही बन जाता है।]

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

(१३) गुण और कर्मके भेदसे चार वर्णोंकी सृष्टि मैंने की है। (चातुर्वर्ण्य)का कर्ता मैं हूं पर तौभी मुझे अकर्ता और अव्यय[१] ही समझो।

[प्रकृतिके तीन गुण होते हैं—सत्व, रज और तम। इन गुणोंके भेदसे ही कर्मके चार भेद हो जाते हैं। इन चार कर्मोंके अनुसार चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—माने जाते हैं। भारतवर्षकीसी चातुर्वर्ण्यव्यवस्था जहां प्रचलित नहीं है वहां भी ये चार वर्ण होते ही हैं चाहे उनका नामनिर्देश तथा उनके पहचाननेकी कोई व्यवस्था भले ही न हो। सत्वप्रधान प्रकृतिके पुरुषको जिसमें रज और तमकी मात्रा कम तथा रज और तममें भी रज अधिक परन्तु तम कम होता है (उसे)ब्राह्मण कहते हैं, क्योंकि वह सत्वप्रधान होनेसे ब्रह्मानुसन्धानमें ही लगता है। रजःप्रधान प्रकृतिके पुरुषको जिसमें सत्व और तमकी मात्रा कम तथा सत्व-तममें सत्व अधिक और तम कम होता है (उसे) क्षत्रिय कहते हैं क्योंकि वह रजःप्रधान होनेसे नाना प्रकारके उद्योग करनेमें लग जाता है। रजःप्रधान प्रकृतिके पुरुषको जिसमें सत्व-तम कम होते हैं और सत्व-तममें भी सत्व कम और तम अधिक होता है (उसे) वैश्य कहते हैं; क्योंकि रजःप्रधान होनेसे वह

१ अव्यय—कभी नाश न होनेवाला।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥१५॥

उद्योगशील और भोगेच्छासक्त होता है। तमः प्रधान प्रकृतिके पुरुषको जिसमें सत्व-रज कम होते हैं और इनमें भी सत्वसे रज ही अधिक होता है (उसे) शूद्र कहते हैं क्योंकि तमः प्रधान होनेसे वह भोगेच्छासक्त होनेपर भी उद्योगशील नहीं होता। इस प्रकार यह चातुर्वर्ण्यव्यवस्था है जो प्रकृतिके गुणोंसे ही सिद्ध हुई है। ईश्वर उसका कर्ता है, अर्थात् ईश्वरकी सत्तासे ही प्रकृतिका यह कार्य होता है—प्रकृतिके वसमें रहकर ईश्वर इसे नहीं करता और इसलिये ईश्वर निःसंग है। इसी हेतुसे कहा है कि ईश्वर कर्ता है, पर यथार्थमें प्रकृतिसे वह कराता है—प्रकृति करती है जिसका बन्धन ईश्वरको नहीं है। इसलिये ईश्वर अकर्ता है।]

(१४) कर्म मुझपर अपना असर नहीं डाल सकते क्योंकि उनके फलकी इच्छा मुझे नहीं है। इस प्रकारसे मुझे जो जानता है वह (भी) कर्मके बन्धनमें नहीं बंध सकता।

(१५) इस बातको समझकर इससे पहले कितने ही पुरुषोंने मोक्षकी इच्छासे (निष्काम) कर्म किया है। इस लिये तुम भी वही कर्म करो जो पूर्वमें पूर्वजोंने किया है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

(१६) बड़े बड़े बुद्धिमान लोग भी इस बातका निश्चय नहीं कर सकते कि कौन कर्म है और कौन अकर्म । इसलिये मैं वह कर्म अर्थात् कर्मका वह सिद्धांत) बतलाता हूं जिससे तुम अशुभसे बचोगे।

[बड़े बड़े विद्वान और बुद्धिमान पुरुष भी कभी कभी इस बातका निश्चय नहीं कर सकते कि अमुक प्रसंगमें क्या कर्तव्य है और क्या नहीं। सत्य भाषण करना चाहिये—यह सामान्य धर्म है। पर ऐसा भी समय आता है जब सत्यभाषण करना धर्म है या असत्यभाषण करना, इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है। भारतीय युद्धमें कौरवोंको जीतनेके निमित्त अजेय द्रोणाचार्यका वध करनेके लिये जब यह आवश्यकता हुई कि यह खबर उड़ा दी जाय कि द्रोणपुत्र अश्वत्थामा मारा गया, जिसमें पुत्रवधकी वार्ता सुनकर द्रोणाचार्य बिना मारे ही मर जायं, तब धर्मराज युधिष्ठिर इस बातका निर्णय नहीं कर सके कि यहां सत्यभाषण करना धर्म है या असत्यभाषण करना। श्रीकृष्णके बतानेपर भी उनकी अवस्था सांप-छछूंदरकीसी ही रही और उन्होंने दोनों धर्मोंका पालन करना चाहा और जोरसे कहा कि "अश्वत्थामा मारा गया" और फिर धीरेसे यह भी कहा कि "नरो वा कुंजरो वा"

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

(मनुष्य अश्वत्थामा मारा गया अथवा अश्वत्थामा नामका हाथी मारा गया)। इस प्रकार कुछ सच भी कहा और कुछ झूठ भी। तात्पर्य यह कि जब दो कर्तव्योंका परस्पर विरोध हो जाता है तब क्या कर्तव्य है और क्या नहीं, इसका निर्णय करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। अर्जुन भी ऐसे ही असमंजसमें पड़ा था—युद्ध करके क्षत्रियधर्मका पालन करता हूं तो ये गुरुजन और अपने ही भाई मारे जाते हैं—क्षत्रियकुलका ही संहार होता है जिससे वर्णसंकरादि होकर अधर्म ही बढ़ेगा; परन्तु ऐसा यदि नहीं करता तो क्षत्रियधर्मसे ही च्युत होता हूं। ऐसे प्रसंगोंका सामना अनेक वार विचारशील पुरुषोंको करना पड़ता है और यह समझमें नहीं आता कि ऐसे समय क्या करना चाहिये। इसलिये भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मका वह सिद्धान्त मैं तुम्हें बतलाता हूं जिसको जानकर तुम पापसे बचोगे। परस्पर-विरोधी दो कर्मोंमेंसे एक कर्मको करना ही पड़ेगा पर उस कर्मके करनेसे अन्य कर्मकी जो हानि होगी तज्जन्य पापसे तुम बचोगे (और यह भी जान सकोगे कि किस समय क्या कर्तव्य है)।]

(१७ कर्म[1] क्या है, विकर्म[2] क्या है और अकर्म[3] क्या है, यह जानना चाहिये, (क्योंकि) कर्मकी गति बड़ी गहन है।

१ कर्म अर्थात् कर्तव्य कर्म अथवा वेदविहित कर्म। २ विकर्म अर्थात् विरुद्ध कर्म अथवा वेदविरुद्ध कर्म। ३ अकर्म अर्थात् कर्म न करना।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्माणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

(१८) जो मनुष्य कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखता है मनुष्योंमें वही बुद्धिमान् है, वही योगयुक्त है और वही सब कर्म किया हुआ है।

[कर्ममें अकर्म देखना क्या है? कर्म करनेसे कर्ताको उस कर्मका फल भोगना ही पड़ता है—"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"— अर्थात् उसे कर्मका बन्धन होता है और इस-लिये इस बन्धनसे छूटनेके निमित्त संन्यास मार्गमें इस कर्मके त्यागका विधान है। पर कर्मका बन्धन क्या है इसका जब हम विचार करते हैं तो यह मालूम होता है कि कर्मके फलकी इच्छामें मन जो अटक जाता है वही कर्मका बन्धन है—उसी इच्छाके कारण शुभ अथवा अशुभ फलसे सुख दुःख होता है, परंतु जो मनुष्य रागद्वेषरहित होकर, फलकी इच्छाको छोड़कर कर्म करता है उसका मन न उस इच्छामें अटकता है और रागद्वेष न होनेसे, न उस कर्मके शुभाशुभ फलसे उसे सुखदुःख ही होता है। इस दृष्टिसे वह कर्म करके भी अकर्मकी ही अवस्थामें रहता है। कर्ममें अकर्म देखना इसीको कहते हैं। और अकर्ममें कर्म देखना यह है कि चाहे कोई निग्रह करके कर्म छोड़ भी दे तौभी कर्म होता ही रहता है—प्रकृतिका धर्म ही कर्म करना है और जबतक प्रकृति है तबतक उसके गुण कर्म करते ही रहेंगे; इसलिये

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥१९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

कर्मत्याग हम जिसे कहते हैं उसमें भी कर्म होता है—"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"—एक क्षण भी कोई अकर्मकी अवस्थामें नहीं रह सकता; और जो ब्रह्म कुछ भी नहीं करता उसीकी सत्तासे यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड चल रहा है। इसलिये वही इसको चला रहा है। यह अकर्मसें कर्म देखना है। इस प्रकार अकर्ममें जिसने कर्म देखा और कर्ममें अकर्म देख लिया, उसीने सब कुछ देख लिया, सब कुछ जान लिया. और ज्ञानका अधिकारी होनेके लिये चित्तशुद्ध्यर्थ जिन सब कर्मोंके करनेकी आवश्यकता होती है वे सब भी वह कर चुका, यही समझना चाहिये।]

(१६) जिसके सब कार्य वासना (इच्छा-) रहित होते हैं उसीको ज्ञानी पुरुष, ज्ञानाग्निमे भस्म हुए हैं कर्म जिसके, ऐसा पंडित कहते हैं।

(२०) जिसने कर्मके फलोंसे अपना मन निकाल लिया है, जो सदा तृप्त है और निराश्रय है—किसो फलके आसरेसे कर्म करनेवाला नहीं—वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता, यही समझना चाहिये।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

(२१) विषयतृष्णा जिसमें नहीं है, जिसने अपने मनको वशमें रखा है, सांसारिक सुखके साधन सब जिसने त्याग दिये हैं, वह केवल शरीरद्वारा कर्म करता हुआ कभी पापका भागी नहीं होता ।

(२२) जो कुछ मिल जाय उसीमें जो संतुष्ट है, सुख दुःखमें जो एकसा रहता है, जो किसीसे डाह नहीं करता, काम बनने या बिगड़नेसे जिसके चित्तमें कोई विकार नहीं होता, वह कर्म करता हुआ भी उसमें नहीं अटकता ।

(२३) जो पुरुष संगरहित है (फलकी इच्छा जिसको नहीं है), जिसका चित्त ज्ञानमें ही अवस्थित है और (इस प्रकार) यज्ञके निमित्त वह जो कर्म करता है उसका सारा कर्म लय हो जाता है (अर्थात् वह परमात्माके त्रैलोक्यसंग्रहकर्ममें मिल जाता है) ।

(२४) (उसके लिये) ब्रह्म ही हवन क्रिया है, ब्रह्म ही हवि

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानान्ये इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

(होमका द्रव्य) है, ब्रह्म ही अग्नि है और उसमें ब्रह्मकी ही आहुति पड़ती है; इस प्रकार ब्रह्मकर्म समाधिसे वह ब्रह्मको ही प्राप्त करता है।

(इस प्रकार जिसने अपने चित्तको विषयोंसे हटाकर आत्मा या ब्रह्ममें लगा दिया और संसारको ब्रह्मरूप देखकर जो लोक-संग्रहका कर्म करता है वह ब्रह्मकर्म ही करता है। ब्रह्मका चिन्तन और ब्रह्मार्पणपूर्वक कर्म ब्रह्मयज्ञ है।)

(२५) कुछ योगी (कर्मी) देवयज्ञ करते हैं (अर्थात् फले-च्छासे ऐसा यज्ञ करते हैं जिससे देवता प्रसन्न होते हैं); और कुछ (योगी) ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञसे ही यज्ञका यजन करते हैं (अर्थात् फलेच्छारहित होकर निष्काम यज्ञ—लोकसंग्रहार्थ कर्म करते हैं)।

(२६) कुछ (योगी) संयमरूप अग्निमें आंख, कान आदि इन्द्रियोंकी आहुति देते हैं (अर्थात् संयमसे इन इन्द्रियोंको अपने वशमें लाते हैं), और कुछ योगी शब्दादि विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें डालकर यज्ञ करते हैं (अर्थात् इन्द्रियोंद्वारा सब व्यापार होते हुए भी उन व्यापारोंमें अपने मनको नहीं फंसाते)।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

(२७) कुछ (योगी) इन्द्रियों और प्राणोंके सब कर्मोंको ज्ञानसे प्रज्वलित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन करते हैं (अर्थात् ज्ञानयुक्त निःसंग कर्म करते हैं)।

(२८) कोई द्रव्ययज्ञ करनेवाले हैं (अर्थात् सत्पात्रों और दीन-जनोंको दान करते हैं), कोई तपरूप यज्ञ करनेवाले हैं (अर्थात् (जप तप व्रतादि करते हैं), कोई योगरूप यज्ञ करने वाले हैं अर्थात् समत्वबुद्धियोग साधते हैं), कोई स्वाध्याय यज्ञ करनेवाले हैं (अर्थात् यथाविधि वेदाध्ययन करते हैं), और कोई ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं (अर्थात् जगत्, शरीर और इसके कारणका अनुसंधान करते हैं); ये सभी दृढ़व्रता यती हैं।

(२९) कुछ (योगी) अपानवायुमें प्राणवायुका और प्राणवायुमें अपानवायुका होम करते हैं और प्राण तथा अपानवायुकी गति रोककर प्राणायाम किया करते हैं। अर्थात् रेचक, पूरक और कुम्भकादि प्राणायाम करते हैं)। [१]

१—अपानवायुमें प्राणवायुका होम अर्थात् बाहरकी वायु शरीरके भीतर खींचना

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

(३०) कुछ लोग बंधे हिसाबसे बंधा हुआ आहार करते हैं और इस तरह प्राणोंमेंही प्राणोंका हवन करते हैं (अर्थात् एक एक करके सब प्राणोंको अपने वशमें करते हैं)। ये सब लोग यज्ञका रहस्य जानते हैं और यज्ञके कारण इनके पापोंका नाश हो जाता है।

(३१) यज्ञ करके बचे हुए अमृतका जो भोग करते हैं वे सनातन ब्रह्मके पास जाते हैं। हे कुरुकुलके दीपक! जो लोग किसी प्रकारका यज्ञ नहीं करते, उनका इहलोक नहीं बनता, फिर परलोक क्या बनेगा?

(३२) इस प्रकार अनेक प्रकारके यज्ञ ब्रह्माके[1] मुखसे निकले हैं। ये सब यज्ञ कर्मसे होते हैं; इस बातका ज्ञान होनेसे तुम मुक्त होगे।

जिसे पूरक प्राणायाम कहते हैं, और प्राणवायुमें अपानवायुका होम अर्थात् शरीरके भीतरकी वायु बाहर छोड़ना जिसे रेचक प्राणायाम कहते हैं, तथा इन दोनों वायुओंकी गति रोककर प्राणायाम करना अर्थात् कुम्भक साधना है। यह त्रिविध प्राणायाम है जिसका नित्यके सन्ध्योपासनमें भी विधान है।

१ ब्रह्मा अथवा वेद।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

(३३) हे परंतप ! द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ; क्योंकि सब कर्मोंका अन्त वही ज्ञान है ।

[२४ वें श्लोकमें ब्रह्ममय यज्ञ बतलाया । २५ वेंमें दो यज्ञोंका वर्णन है—देवयज्ञ, और दूसरा, यज्ञसे ही यज्ञका व्यजन जिसे हम यज्ञार्थ यज्ञ कह सकते हैं । २६ वें श्लोकमें शम और दमका वर्णन है । बाहरसे इन्द्रियोंको रोक रखनेको दम कहते हैं—यह मनोजय साधनकी प्रथम अवस्था है । अपने अपने विषयोंकी ओर दौड़ जानेवाली इन्द्रियोंको बलात् रोककर उन्हें अपने वशमें लानेका यह अभ्यास है । इसे दमो यज्ञ कह सकते हैं । दम साधनेपर शमकी अवस्था आजाती है अर्थात् मन शान्त होने लगता है, विषयोंके पीछे नहीं दौड़ता और इस तरह इन्द्रियोंका शमन होता है । इसे शमोयज्ञ कह सकते हैं । परन्तु ये शम-दम अभ्याससे सिद्ध होनेपर भी जबतक उस अभ्यासके पीछे ज्ञान नहीं होता तबतक संयमकी पूर्णता नहीं होती । इसलिये २७ वें श्लोकमें ज्ञानयुक्त संयमका निर्देश है । इसे ज्ञानाग्निदीप्त आत्मसंयमयोग यज्ञ कहा है । फिर २८ वें श्लोकमें ५ यज्ञोंका वर्णन है—द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ । २९ वें श्लोकमें प्राणायाम-यज्ञ और ३० वेंमें नियताहार-यज्ञका वर्णन है । यहांतक सब मिलाकर १३ यज्ञोंका वर्णन है । ये सभी यज्ञ वेदविहित होनेसे अथवा देवताप्रीत्यर्थ

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

या ईश्वरप्रीत्यर्थ होनेसे यज्ञ कहे जाते हैं। इन यज्ञोंमेंसे किसी न किसी यज्ञका आचरण प्रत्येक मनुष्यको अवश्य करना चाहिये; और नित्य करनेके पंचमहायज्ञ सबके लिये हैं ही। इन यज्ञोंमेंसे जो मनुष्य कोई भी यज्ञ नहीं करता वह, श्रीमत्कृष्ण-द्वैपायन भगवान वेदव्यास कहते हैं कि, इस लोकमें रहने योग्य नहीं है और इसलिये,

द्वावेवाप्सु प्रवेष्टव्यौ कण्ठे बध्वा दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥

अर्थात् दान न देनेवाले धनी और तप न करनेवाले दरिद्र दोनोंके गलेमें मजबूत पत्थर बांधकर उन्हें जलमें डुबा देना चाहिये। मतलब यह कि उक्त यज्ञोंमेंसे कोई न कोई यज्ञ अवश्य करना चाहिये, अन्यथा गलेमें पत्थर बांधकर डूबनेके ही समान है।

(३४) प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवासे उसे प्राप्त करो। तत्वदर्शी ज्ञानी लोग तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश देंगे—

[प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा अर्थात् सद्गुरुके समीप जाकर भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणिपात अर्थात् नमस्कार करना और उनसे प्रश्न करना कि यह संसार क्या है, मैं कौन हूं, इस संसारका आदि कारण कौन है और मेरा उसका क्या संबंध

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

है? और फिर इन प्रश्नोंका उत्तर सुनने और समझनेके लिये सद्गुरुकी सेवा करना यही ज्ञानप्राप्तिका उपाय है। इसके विना ज्ञानप्राप्ति नहीं होती। ग्रन्थोंके पठनसे ज्ञान नहीं होता; प्रत्युत जीवन ही ज्ञानप्राप्तिके योग्य बनाना होता है। तभी ज्ञानका मार्ग मिलता है। सद्गुरुको प्रणिपात करने, उनकी शरण जाने और सेवा करनेका यह अभिप्राय है कि अहंकार सद्गुरुके चरणोंमें अर्पण करदो। अहंभावकी अवस्थामें ज्ञानका प्रकाश नहीं होता। अभिमान ज्ञानका द्वार बन्द कर देता है। इसलिये अभिमान त्यागकर, अहंकारको भूलकर सत्यानुसन्धानमें प्रवृत्त होनेसे सत्यका पता लगता है और इसीलिये सद्गुरुकी शरणमें जानेका उपदेश है।]

(३५)—जो ज्ञान प्राप्त होनेपर फिर तुम्हें ऐसा भ्रम न होगा। उससे तुम यह देख सकोगे कि यह सारा संसार जैसे मेरे अन्दर है वैसे तुम्हारे अन्दर है।

(आत्मा क्या है? परमात्मा कौन है? यह देह क्या है? इस पृथ्वीका आत्मा कौन है? इन प्रश्नोंका खुलासा हो जानेसे फिर संसारकी भिन्न भिन्न वस्तुएं अपनेसे भिन्न नहीं मालूम हो सकतीं। क्योंकि यह पृथ्वी जिस आत्माकी देह है उसी अन्तरात्मा—परमात्माकी यह मनुष्यदेह भी है।)

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

(३६) पापियोंमें भी कोई महापापी भी क्यों न हो, उस ज्ञानकी नौकासे वह इस पापसमुद्रको पार कर जायगा।

(३७) जिस प्रकार धधकती हुई आग सब लकड़ियोंको जला डालती है उसी प्रकारसे वह ज्ञानरूपी अग्नि सारे पापोंको भस्म कर देती है।

(३८) इस संसारमें ज्ञानके समान और कोई पवित्र वस्तु नहीं है। कालसे अर्थात् दीर्घ काल अभ्यास करके जिसे योग सिद्ध हो जाता है उसके अन्दर यह ज्ञान आप ही सिद्ध होता है।

(३९) श्रद्धा और जितेन्द्रियताके साथ आत्मचिंतन करनेसे वह ज्ञान प्राप्त होता है। वह ज्ञान प्राप्त होते ही परमशांति प्राप्त होती है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥
इति श्रीमद्भगवत्० कर्मब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

(४०) परन्तु जो अज्ञ है, जिसमें श्रद्धा नहीं, जो संशयात्मा है, उसकी बड़ी दुर्गति होती है । उसका यह लोक और परलोक दोनों ही बिगड़ता है । वह सदा दुखी रहता है ।

(४१) हे धनञ्जय ! जिसने योगपूर्वक कर्मों का त्याग किया है (अर्थात् फलकी इच्छासे कर्म करना छोड़ दिया है), ज्ञानसे जिसका सन्देह दूर हो चुका है, जो आत्मवान है, उसे कर्म बन्धन नहीं करते ।

(४२) इसलिये हे अर्जुन ! अज्ञानके कारण तुम्हारे हृदयमें जो संशय उत्पन्न हुआ है, उसे ज्ञानकी तलवारसे काटकर योग धारण करो और (युद्धके लिये) उठो ।

[ज्ञानयुक्त कर्मरूप संन्यासका रहस्य बतलाते हुए भगवान-ने सर्वप्रथम चिन्मय ब्रह्मकी सत्तासे किस प्रकार प्रकृति द्वारा मूल प्रकृतिकी विकृति होनेके समयसे ही अबतक यह सृष्टिचक्र चला आता है अर्थात् ज्ञानमय ब्रह्म द्वारा यह कर्म कैसे हो रहा है यह बतलानेके लिये सूर्य—मनु—इक्ष्वाकुकी परम्परा बतायी

और आत्माके अनन्त जन्मकर्मोंका संकेत करते हुए अपने दिव्य जन्मकर्मका वर्णन किया और संसारके धारण पोषणके लिये ईश्वरात्मा किस प्रकार अवतीर्ण होता है यह भी बता दिया। पर यह जन्मकर्म दिव्य है और इस दिव्य जन्मकर्मको जो जानता है वह भी परमात्मामें मिल जाता है, यह दिव्य ज्ञान सबको कैसे हो सकता है? सबकी इच्छाएं भिन्न भिन्न हैं और जिनकी जैसी इच्छाएं हैं वैसे ही रूपसे वे ईश्वरकी उपासना करते हैं और जैसे उपासना करते हैं वैसाही फल पाते हैं। अस्तु। ईश्वरके दिव्य जन्मकर्मका रहस्य यही है कि ईश्वरको कोई बन्धन नहीं है—इच्छा नहीं है। इस प्रकार ईश्वरको जो जानता है वह भी बन्धनरहित हो जाता है। ईश्वर कर्म करता है, पर बन्धनरहित है। मुमुक्षु भी कर्म करके बन्धनरहित होते हैं। पर कर्म क्या है यह जानना बड़ा कठिन है। इसलिये कर्मका सिद्धान्त बता दिया है। क्या? यतचित्त, जितेन्द्रिय होकर यज्ञ करना। १३ प्रकारके यज्ञोंका वर्णन किया और जिनमें सबसे श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञको बताकर अन्तमें बताया कि यज्ञ करके बाकी बचे हुए अमृतका भोग करनेसे ही परमपदकी प्राप्ति होती है—ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञानके लिये सद्गुरुकी शरणमें जानेका उपदेश दिया और बतलाया कि वह ज्ञान प्राप्त होनेपर तुम्हारा सब मोह नष्ट हो जायगा।]

चौथा अध्याय समाप्त

पञ्चमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

पांचवां अध्याय

संन्यासयोग

[ज्ञान ही परम पुरुषार्थ है, यही श्रीकृष्णभगवान बराबर कहते आये हैं और अर्जुनको यह भी बतलाते आये हैं कि तुम कर्म करो, यज्ञार्थ कर्म करो, लोकसंग्रहार्थ कर्म करो; और चौथे अध्यायके अन्तमें उन्होंने अर्जुनको यह भी बतलाया कि सद्गुरुके चरणोंकी शरण लेकर यह ज्ञान प्राप्त करो जिससे तुम्हारा मोह सदाके लिये दूर हो जाय। बारबार ज्ञानकी ही महिमा सुनकर अर्जुनके चित्तसे कर्मयोगकी महिमा मिट जाती है और ज्ञानके लिये संसार छोड़नेकी ही प्रवृत्ति होती है। इसलिये संसारको छोड़ना या संसारके बन्धनोंसे मुक्त होना अथवा संन्यास यथार्थमें क्या है यह बतलानेके निमित्त "संन्यासयोग" नामक इस पांचवें अध्यायकी सृष्टि है।]

(१) अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! आप सब कर्मोंको

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पंडिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

छोड़ देना अच्छा बतलाते हैं और फिर योगकी भी प्रशंसा करते हैं। (ऐसा न करके) इन दोनोंमें जो वास्तवमें श्रेष्ठ हो वही एक निश्चित मार्ग बताइये।

(२) श्रीकृष्णने कहा—संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष देनेवाले हैं। इसमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।

(३) हे आजानुबाहु अर्जुन! सच्चा संन्यासी वही है जो न किसीका द्वेष करता है न किसीको चाहता है। जो सुख-दुःखादिके द्वन्द्वसे मुक्त है वही कर्मके बन्धनोंसे बड़ी सुगमताके साथ स्वतन्त्र हो जाता है।

(४) (सच पूछो तो) सांख्य और योग अलग अलग हैं, ऐसा मूर्ख लोग कहते हैं, पंडित नहीं। (कारण इनमेंसे) किसी एक मार्गका ठीक तरहसे अवलम्बन करनेसे दोनोंका फल मिलता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥

(५) सांख्य (संन्यास) से जो स्थान मिल सकता है वह योगसे भी मिल सकता है। (सच बात तो यह है कि) सांख्य और योगको जो एकही समझता है वही ज्ञानी है।

(६) संन्यास भी योगके बिना पाना बड़ाही कठिन है। जो मुनि योगयुक्त हो जाता है उसे ब्रह्मके पास पहुंचनेमें देर नहीं लगती।

(७) जो योगयुक्त हो गया है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, जिसने अपने मनको जीत लिया है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है और जो सब भूतोंमें आत्मभूत हुआ है (अर्थात् जो सर्वत्र आत्मरूप ही देखता है) वह कर्म करता हुआ भी (कर्मके बन्धनोंमें) नहीं फंसता।

(८-९-१०) तत्त्वको जाननेवाला जो योगी देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूंघता, खाता, पीता, चलता, सोता, सांस

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तंत इति धारयन् ॥९॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥१०॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वंति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्धयते ॥१२॥

लेता और छोड़ता, बात करता, लेता देता, आंख खोलता और बन्द करता हुआ यह समझता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूं, (प्रत्युत) यह मानकर कि इन्द्रियां ही अपने विषयोंमें काम करती हैं, निःसंग होकर ब्रह्मार्पणपूर्वक कर्म करता है, वह पापसे वैसे ही अलग रहता है जैसे पानीसे कमलका पत्ता ।

(११) अपने मनकी शुद्धिके लिये फलकी इच्छा छोड़ कर योगी लोग अपने तन, मन, बुद्धि अथवा केवल इन्द्रियोंसे ही कर्म करते हैं ।

(१२) योगी पुरुष कर्मके फलको छोड़कर पूर्ण शान्ति पाते हैं । जो अयुक्त है—जिसकी बुद्धि अस्थिर है—वह वासनाके कारणसे अपने कर्मके फलमें आसक्त होकर बद्ध होता है ।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जंतवः ॥१५॥

(१३) मनसे सब कर्मोंको छोड़कर नौद्वारवाली इस देहनगरीमें जितेंद्रिय पुरुष कुछ करता कराता नहीं, आनन्दसे पड़ा रहता है।

(१४) परमात्मा मनुष्योंको न कर्ता बनाता है, न उनके लिये कर्म ही निर्माण करता है—न कर्मफलका संयोग ही। यह सब प्रकृति ही किया करती है।

(परमात्मा मनुष्योंको कर्ता नहीं बनाता अर्थात् वह आकर किसीको यह नहीं बताता कि तुम करो, या अमुक कर्म करो, न वह उस कर्मका ही फल देता है। मनुष्य स्वतन्त्र है, वह स्वयं कर्ता है। जो चाहता है वह करता है और जो करता है, उसका फल भी उसीसे उत्पन्न होता है। यह सब प्रकृतिके नियमोंके अनुसार ही होता है। आत्मा स्वयं अकर्ता है, प्रकृतिके गुण ही कर्म करते हैं और अज्ञानके कारण पुरुष यह समझता है कि मैं कर्ता हूं, ईश्वर करता है। जितना व्यापार होता है वह सब प्रकृतिसे होता है, जिससे आत्मा स्वतन्त्र है।)

(१५) परमात्मा किसीका पापपुण्य नहीं ग्रहण करता,

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥१७॥
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

ज्ञानपर अज्ञानका पर्दा पड़ा हुआ है जिससे प्राणियोंको भ्रम होता है।

(१६) जिनका यह अज्ञान आत्मज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उनका ज्ञान सूर्यके समान वह परम तत्व प्रकाशित करता है।

(१७) उस (परब्रह्म)में जिनकी बुद्धि लगी हुई है, उसीमें जिनका चित्त लगा है, उसीमें जिनकी स्थिति है, उसीको जिन्होंने अपना सर्वस्व समझ लिया है और ज्ञानसे जिनके सारे पाप धो गये हैं उनका फिर जन्म नहीं होता।

(१८) विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता, चांडाल सबको ज्ञानी लोग एक समान दृष्टिसे ही देखते हैं।

(१९) जिनका मन समतामें स्थित है उन्होंने संसारमें रहते हुए ही संसारको जीत लिया है। ब्रह्म ही निर्दोष और सम है इसलिये वे ब्रह्ममें ही रहते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

(२०) इस प्रकार जो ब्रह्ममें स्थित है वह स्थिरबुद्धि, ज्ञानी, ब्रह्मवेत्ता पुरुष प्रिय वस्तुके लाभसे न हर्षित होता है और न अप्रिय वस्तुके योगसे दुखी हो।

(२१) उस ब्रह्मयोगमें लगे हुए योगीका चित्त बाहरी वस्तुओंके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेसे उसमें नहीं फंसता, वह आत्मामें ही आनन्द अनुभव करता है—अक्षय सुख प्राप्त करता है।

(२२) इन्द्रियोंके स्पर्शसे जो भोग प्राप्त होते हैं वे दुःखके मूल हैं। ये भोग सदा नहीं रहते (इसलिये) पण्डित उनमें रममाण नहीं होते।

(२३) मृत्युसे पहले ही जो मनुष्य काम और क्रोधके वेगको सह सके वही योगी और सुखी है।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः ॥२५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

(२४) अन्तः सुखी याने जो विषयसुखके विपरीत आत्मस्वरूपसे ही सुखी हो गया, जो उसीमें मगन हो गया और जिसमें आत्मज्ञानकी ज्योति जगमगाने लगी वह स्वयं ब्रह्म होकर ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होता है।

(२५) ऋषि लोग जिनके पाप नष्ट हुए हैं, जिनके सब संशय नष्ट हो गये हैं, और जो इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हुए सब भूतोंके हितमें रत हैं वे ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष पाते हैं।

(२६) काम और क्रोध जिनमें नहीं हैं, चित्त जिनके वशमें है और जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है (उनसे ब्रह्म दूर नहीं) हर समय और हर जगह उन्हें ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष प्राप्त है।

(२७-२८) बाहरी विषयोंको बाहर ही रखकर, दोनों भौओंके बीचमें दृष्टि लगाकर, नाकके नथूनोंमेंसे चलनेवाली प्राणवायु और अपानवायुकी गति बराबर करके, इन्द्रिय, मन

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छंति ॥२९॥

इति श्रीमत्० कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥५॥

और बुद्धिको जिसने अपने वशमें किया और इच्छा, भय, क्रोध जिसका नष्ट हुआ, इस तरह जो मुनि मोक्षमार्गपर पूर्णतया आ गया वह सदा मुक्त ही है।

(२६) वह, यज्ञों और तपोंके भोक्ता, ब्रह्माण्डके स्वामी और संसारके सुहृद मुझको जानकर शान्ति प्राप्त करता है।

[१४ वें और १५ वें श्लोकमें यह बतलाया कि ईश्वर किसी-का कर्तृत्व, कर्म या कर्म-फल संयोग नहीं निर्माण करता और किसीका पापपुण्य भी नहीं ग्रहण करता। उसका भाव यह था कि यह प्रकृति द्वारा होता है—प्रकृतिके नियमोंके अनुसार होता है। जैसे राजा किसीको दण्ड नहीं देता—कानून दण्ड देता है वैसा ही समझिये। अन्यथा प्रकृतिका कार्य प्रभुकी सत्ताके बिना नहीं हो सकता, जैसे राजाके बिना (या राज्यव्यवस्थाकी शक्तिके बिना) अराजकता फैल जाती है। इसीलिये इसी अर्थमें भगवान यज्ञतपादिके भोक्ता, संसारके सुहृद और तीनों लोकके नाथ हैं।]

[संन्यास और कर्मयोग दोनों एक ही हैं, क्योंकि दोनोंका सिद्धान्त एक ही है। सब कुछ करता हुआ भी जो यह समझता

है कि मैं कुछ नहीं करता, यह सब इन्द्रियोंका विषयव्यापार है और ब्रह्मार्पणपूर्वक कर्म करता है वह सब कुछ करके भी उससे अलग रहता है (१—१०)। (यह संन्यास ही है।) जबतक पुरुषको पूर्ण ज्ञान नहीं होता तबतक योगी आत्मशुद्धिके लिये कर्म करता है और जब ज्ञान हो चुकता है तब वह कर्म नहीं करता—प्रकृति कर्म करती है, क्योंकि वह जानता है, कर्म किस प्रकार होते हैं। जैसे परमात्मा किसीका कर्तृत्व, कर्म या कर्मफलसंयोग नहीं निर्माण करता वैसे ही मैं कुछ नहीं करता इस ज्ञानसे जिसका अज्ञान नष्ट हो गया है (वह संन्यासी ही है) उसके सामने परम ज्ञान प्रकाशित होता है। वह ब्राह्मण चांडाल सबको समदृष्टिसे देखता है और समस्वरूप जो ब्रह्म है उसमें मिल जाता है। वह सब प्राणियोंके हितमें रत रहता और ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है (११—२८)। इस प्रकार संन्यासका सिद्धान्त बतलाकर यहांतक कर्मयोगका जो विवेचन हुआ उससे यह सिद्ध हुआ कि ऐसे संन्यासके लिये यह आवश्यक है कि इंद्रिय, मन और बुद्धि अपने वशमें हों, इसके बिना यह योग नहीं सध सकता; और इन्द्रिय, मन और बुद्धिको वशमें करनेके लिये विषयोंसे विरक्त होते हुए तद्विपरीत ईश्वरका ध्यान करनेकी आवश्यकता है इसलिये अगले अध्यायमें ध्यानयोगका वर्णन किया जायगा।]

पांचवां अध्याय समाप्त

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

छठा अध्याय

—:o:—

ध्यान योग

[इन्द्रिय मन और बुद्धिको अपने वशमें करनेके लिये ईश्वरके ध्यानकी आवश्यकता है। विषयोंसे ध्यान हटाकर ईश्वरकी तरफ जबतक वह न लगाया जायगा तबतक न विषय ही छूट सकते हैं, न मनबुद्ध्यादि ही अपने वशमें हो सकते हैं। मनबुद्ध्यादि जबतक वशमें नहीं हैं तबतक कर्मफलसंन्यास-पूर्वक कर्मयोग भी नहीं सध सकता। पिछले अध्यायतकके विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका है कि संन्यास और योग दोनों-का सिद्धान्त एक ही है और संन्यास कर्मयोगके बिना अथवा कर्मयोग भी संन्यासके बिना नहीं सध सकता। इसलिये संन्याससाधनके निमित्त "ध्यानयोग" की सृष्टि है जिसका वर्णन आगे किया जायगा।]

(१) श्रीकृष्णने कहा—वही संन्यासी और वही योगी है

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

जो कर्मफलका आसरा न रखकर कर्तव्यकर्म करता है। अग्निहोत्रादि न करनेसे अथवा कर्म करना छोड़ देनेसे कोई संन्यासी नहीं होता।

(२) हे अर्जुन! जिसे संन्यास कहते हैं वही तो योग है, क्योंकि जबतक फलकी इच्छा नहीं छूटती तबतक कोई योगी नहीं हो सकता।

(इस प्रकारके अर्थात् संन्यासयुक्त कर्मयोगी बननेके लिये क्या करना चाहिये, यह आगे बतलाते हैं।)

(३) इस योगमार्गपर जो साधक आरूढ होना चाहता है उसके लिये कर्म साधन है और योगारूढ हो चुकनेपर उसीके लिये शम (चित्तकी स्थिरता या मनकी शांति) साधन है।

(अर्थात् इस प्रकारके योगी होनेके लिये कर्म अर्थात् स्वधर्मपालन ही साधन है। कर्म किये विना कोई योगी नहीं हो सकता और जब वह योगारूढ हो जाय, इस प्रकार योग-मार्गपर आ जाय तब उसकी इस मार्गपर स्थितिका कारण मनकी शांति है। यदि मनकी शांति न रही तो वह योगमार्गपर रह नहीं सकता। इसलिये इस शांतिका साधन करना चाहिये; यह साधन क्या है यह आगे बतलाते हैं।)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥
बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥
जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

(४) जब पुरुष इंद्रियोंके विषयों और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता (अर्थात् निःसंग रहता है), सब वासनाओंको त्याग देता है, तभी उसको योगारूढ़ कहते हैं। (अर्थात् योगारूढ़की स्थिति 'शांति'के लिये कर्मासक्ति और वासनात्याग ही साधन है।)

(५) (पुरुष) अपना उद्धार आपही करे, अपने आपको गिरने न दे। (हर कोई) आप ही अपना मित्र है और आपही शत्रु।

(स्वावलंबन और आत्मोद्धारकी कैसी दिव्य शिक्षा है जो जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें मनुष्यका काम दे सकती है!)

(६) जिसने अपने आपको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र है; और जिसने अपना जय आप नहीं किया, वह (यह समझिये कि) अपने साथ आपही शत्रुता कर रहा है।

(७) जो अपने आपको जीत लेता है उसका मन शांत

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥८॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

रहता है और उसका परमात्मा सुख-दुःख, सरदीगरमी, मान अपमानमें स्थिर और सम रहता है ।

(यहां आत्माकोही परमात्मा कहा है । आत्मा और परमात्मामें कोई भेद नहीं है। भेद जो कुछ है वह यही है कि—

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥

(महाभा० शां० १८७,२४)

अर्थात् प्रकृतिके गुणोंसे संयुक्त आत्माको क्षेत्रज्ञ या जीव कहते हैं और इन गुणोंसे युक्त आत्माको परमात्मा ।)

(८) ज्ञान और विज्ञान (प्रत्यक्ष अनुभव) से जिसका आत्मा संतुष्ट हुआ है, जो विषयके झकोरोंसे डांवाडोल होनेवाला नहीं, जिसने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है, जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना बराबर है, वही योगी युक्त (योगारूढ़) कहलाता है ।

(९) जिसकी दृष्टि उपकारी, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और स्नेही, तथा साधु असाधु सबमें सम है वही श्रेष्ठ है ।

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

(१०) योगीको चाहिये कि सदा एकान्तमें एकाकी रहता हुआ चित्तको अपने वशमें करके, सब वासनाओं और विषयों-को त्यागकर योगमें (ध्यान योगमें) लगे।

(११) पवित्र स्थान हो, वहां (योगी) कुशासनपर मृगचर्म और मृगचर्मपर वस्त्र बिछाकर स्थिर आसन लगावे। यह आसन बहुत ऊंचा भी न हो और बहुत नीचा भी न हो।

(१२) ऐसे पवित्र आसनपर बैठ अपने चित्त और इन्द्रियों-के व्यापारको वशमें करके आत्मशुद्धिके लिये मनको एकाग्र कर योग साधन करे।

(१३) शरीर, शिर, और गर्दन सीधी और अचल रख, स्थिर होकर सब दिशाओंसे दृष्टिको हटाकर उसे नाककी नोकपर लगाये रहे।

प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥
युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

(१४) (इस अवस्थामें) वह शांत, निर्भय और ब्रह्मचर्य-व्रती पुरुष मनको जीतकर मेरा ध्यान करता और मुझमें ही अपने चित्तको लगा योगाभ्यास करता रहे।

(१५) इस प्रकार सदा अपने आपको योगमें लगाये रहनेवाला और मनको अधीन रखनेवाला योगी मेरे अन्दर जो निर्वाण(मोक्ष)दायिनी शांति है उसे प्राप्त करता है।

[ध्यान करनेके लिये जो स्थान हो वह अत्यन्त पवित्र हो, ऐसा हो कि देखनेके साथ ही मन प्रसन्न हो और अत्यंत पवित्र भावोंका उदय हो—मन, जहांतक संभव हो, वहांसे हटनेकी इच्छा न करे। ऐसे स्थानमें आसन लगाना चाहिये। कुशासनके ऊपर मृगचर्म और मृगचर्मके ऊपर स्वच्छ धूत वस्त्र—इस प्रकारका आसन होना चाहिये। भगवान पतंजलिने आसनका यह सिद्धान्त बताया है कि, "स्थिरंसुखमासनम्" अर्थात् आसन स्थिर हो और सुखद हो। यह आसन ऊंचा भी न हो और नीचा भी न हो क्योंकि ऊंचा होनेसे देह डोलने लगेगी और बहुत नीचा होनेसे भूमिकी ठंडक आदि दोषोंसे शरीरको कष्ट हो सकता है। इसलिये आसन सब प्रकारसे सुभीतेका हो।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

ऐसे आसनपर बैठकर मनको एकाग्र करके ध्यान करना चाहिये। ध्यान करते समय शरीर, शिर और गर्दन सीधी, स्थिर और अचल रहे और दृष्टि सब दिशाओंसे हटकर केवल नाककी नोकपर गड़ी रहे। ऐसे ध्यानसे क्या होता है? ऐसे ध्यानसे मन निर्मल होता है। विषयोंकी तरफसे मन हटने लगता है और क्षणिक विषयसुख तुच्छ प्रतीत होने लगता है, अक्षय सुखका अनुभव होने लगता है और यह अभ्यास और वैराग्य बढते बढते अन्तमें चिरशांति या ब्रह्मप्राप्ति होती है। परंतु यह ध्यानावस्था कोई हंसीखेल नहीं है। इसके लिये बड़े संयमसे रहना होता है और नियमसे चलना होता है। यही आगे बतलाते हैं।]

(१६) (परंतु) जो लोग बहुत अधिक भोजन करते हैं अथवा जो बिलकुल ही नहीं करते, (इसी प्रकार) जो बहुत सोते हैं अथवा रात बेरात जागते ही बैठते हैं वे (इस) योगका साधन नहीं कर सकते।

(१७) जो पुरुष नियमसे आहार विहार करता है, नियमसे सब काम करता है, सोना और जागना भी जिसका नियमके

साथ है वह योगका अभ्यास करे तो उसके सारे दुःख दूर हो जायं।

[नियमसे आहार करनेका अर्थ यह है कि एक तो नित्य ठीक समयपर भोजन हो और दूसरे वह इतना ही हो जिससे मन प्रसन्न रहे और शरीर भारी न हो। योगशास्त्रमें अन्नपरिमाण यह बतलाया है, "अर्द्धमशनस्य सव्यजनस्य तृतीयमुदकस्य तु, वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥" अर्थात् उदरके चार भाग मानकर दो भाग अन्नादिसे भरे, एक भाग याने तीसरे भागमें जल पहुंचावे और चौथा भाग वायुके संचारके लिये छोड़ दे। नियमसे विहार करनेका अर्थ यह है कि घूमना फिरना या व्यायाम करना नियमसे हो। इस योगके लिये चलनेका व्यायाम ही पर्याप्त है और इसका नियम यह बतलाया गया है कि "योजनान्नपरं गच्छेत्" एक योजन याने ४ कोससे अधिक न चले, पर इसका यह मतलब नहीं है कि बिलकुल ही न चले। यदि ऐसा होगा तो वह नियमित विहार नहीं हुआ। मतलब यह है कि २। ३ कोस चलनेका श्रम अवश्य होना चाहिये। साधारणतः यह नियम माना गया है कि जिन लोगोंको मानसिक श्रमका कार्य करना पड़ता है उनकी आरोग्यरक्षाके लिये यह आवश्यक है कि वे नित्य जितने घण्टे मानसिक श्रम करते हैं, कमसे कम उतने घंटे उन्हें शारीरिक श्रम भी करना चाहिये। साधारणतः सबको कमसे कम ३ घंटे विहार करना चाहिये। नियमसे सब काम करनेका मतलब यह है कि व्यर्थ कोई

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥१९॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

भी काम न करे-व्यर्थ बकवाद न करे, व्यर्थ कहीं आना जाना न करे और नित्यका कार्य ठीक समयपर और नियमित रूपसे करे। नियमसे सोनेका मतलब यह है कि रातके आदि और अन्त भागमें जागता रहे—मध्य भागमें सोवे। यही नियम जागनेका हुआ। इस प्रकार नियमसे चलनेसे शरीरके रक्तादिक सप्त धातु सम परिमाणमें रहते हैं और चित्तको संतोषवृत्ति बढ़ती जाती है। इससे चित्त ठिकाने रहता है।]

(१८) मुक्त (अथवा योगारूढ़ हुआ) योगी तभी कहाता है जब उसका चित्त वशमें हो, आत्माके चिन्तनमें ही रत हो और वह सब इच्छाओंसे स्वतन्त्र हो जाय।

(१९) जिस योगीका चित्त वशमें है और (इस प्रकार) योगमें लगा हुआ है वह उस दीपकके समान (ज्योतियुक्त और स्थिर) है जो निवात स्थानमें है (अर्थात् जहां हवासे वह लपलपाता या भकभकाता नहीं है—स्थिर है)।

(२०—२३) योगके सेवनसे (योगाभ्याससे) वशमें हुआ

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥२४॥

चित्त जहां (अर्थात् जिस वस्तुको पाकर) विषयोंसे उपराम हो जाता है और जहां अपने अन्दर आप ही अपने दर्शनकर (योगी) संतोष लाभ करता है—जहां वह आत्यंतिक सुख प्राप्त होता है जो बुद्धिसे ही जाना जाता है, इन्द्रियोंसे नहीं; जहां एक बार स्थित होनेसे वह फिर तत्वसे (आत्मस्वरूपसे) च्युत नहीं होता, जिसको पाकर फिर और किसी लाभको उससे अधिक नहीं समझता और जिसमें रहता हुआ योगी महान्से महान् दुःख-से भी विचलित नहीं होता—उस (वस्तु या स्थिति) को दुःख-के संयोगसे वियोग (अर्थात जहां दुःख सदाके लिये छूट जाता है ऐसा) जानो (और) उसीको योग कहते हैं; ऐसे योगका अभ्यास अध्यवसाय और प्रसन्नताके साथ अवश्य करना चाहिये।

(२४—२५) नाना प्रकारकी चित्तवृत्तियोंसे उत्पन्न होने-

शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥
प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥
युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥२८॥

वाली सब इच्छाओंको पूर्ण रूपसे छोड़कर, मनसे सब इन्द्रियों-को चारों ओरसे वशमें करके धैर्ययुक्त बुद्धिसे धीरे धीरे सब विषयोंसे उपराम होना चाहिये। और आत्मामें मन लगाकर किसी विषयकी चिन्ता न करनी चाहिये।

(२६) जहां जहांसे यह चंचल अस्थिर मन बाहर निकल भागना चाहे वहां वहांसे इसे खींचकर आत्माके वशमें करना चाहिये।

(२७) जिसने अपने मनकी चंचलता दूर कर दी है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, जो पवित्र पुरुष ब्रह्ममें मिल गया है उसे उत्तम सुख प्राप्त होता है।

(२८) इस प्रकार योगमें लगा हुआ निष्पाप योगी अनायास ब्रह्मके योगसे मिलनेवाला अत्यन्त सुख प्राप्त करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

(२९) जिसका आत्मा योगयुक्त हो गया वह सर्वत्र समदर्शी हो जाता है—सब भूतोंके अन्दर अपने आपको और अपने अन्दर सब भूतोंको देख पाता है।

(३०) जो पुरुष मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मेरे अन्दर देखता है, मैं उससे अलग नहीं होता, और वह भी मुझसे अलग नहीं होता।

(३१) जो सब पदार्थोंमें रहनेवाले मुझको एकत्वबुद्धिसे (अर्थात् यह जानकर कि सर्वत्र एक ही आत्मा या परमात्मा है) पूजता है वह कर्म करता हुआ भी मुझमें ही वास करता है।

(३२) हे अर्जुन! अपने जैसा ही जो मनुष्य सबको समझता है और सबके सुख दुःखका अपने सुखदुःखसे अनुभव करता है वह योगी सबसे श्रेष्ठ है।

[इस ध्यानयोगका अभ्यास करता हुआ पुरुष यह जानता है कि सर्वत्र परमात्मा ही व्याप्त है और यह जानकर जो कर्म

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

करता है वह कर्म करता हुआ भी ब्रह्ममें ही लीन रहता है । यह बतलाकर भगवानने कर्मयोगकी विशेषता स्पष्ट करके बतला दी और फिर सर्वत्र समबुद्धि जिसकी हो गयी और ऐसी समबुद्धिसे जो सबके सुखदुःखको जानता है (अर्थात् सबके दुःखनिवारणार्थ कर्म करता है) उसी योगीको श्रेष्ठ योगी कहा है ।],

(३३) अर्जुन प्रश्न करता है—हे मधुसूदन* ! समबुद्धि अर्थात् सर्वत्र समदृष्टि, रखनेका जो यह योग आपने बताया, मैं मनकी चंचलताके कारण यह न समझ सका कि स्थिरताके साथ उसका अभ्यास कैसे हो सकता है ।

(३४) हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चंचल, हठी, बलवान् और दृढ़ है । उसे रोकना मेरी समझमें वैसा ही है जैसे कोई हवाको रोके ।

(३५) श्रीकृष्ण कहते हैं—सचमुच ही, हे महाबाहो !

* मधु नामक दैत्यको श्रीकृष्णने मारा था इसलिये उनका नाम मधुसूदन पड़ा ।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

मनको अधीन करना बहुत ही कठिन है। परन्तु हे कौंतेय! अभ्यास और वैराग्यसे (अर्थात् योगाभ्यास और विषयके प्रति वैराग्यसे) यह वसमें लाया जा सकता है।

(३६) जो अपने मनको अपने अधीन नहीं कर सकता उसके लिये, मेरे मतसे योग बहुत ही कठिन है। परन्तु जिसने मनको वसमें कर लिया वह अभ्याससे उस समत्वबुद्धियोगको प्राप्त हो सकता है।

(३७) अर्जुनने पूछा—हे कृष्ण! जो श्रद्धालु है पर इस प्रकार अभ्यास नहीं करता, और योगसे जिसका मन नीचे गिर गया है वह योगसिद्धि न पाकर किस गतिको पाता है?

(३८) मोहवश स्थिर न रहनेसे क्या वह मनुष्य उभय (दोनों) मार्गोंसे भ्रष्ट होकर फटे बादलके टुकड़ेकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

(३९) हे कृष्ण ! मेरा यह सन्देह आपहीको जड़से दूर करना होगा ; इस सन्देहको मिटानेवाला आपके सिवाय और कोई नहीं मिल सकता ।

(४०) श्रीकृष्ण कहते हैं—हे पार्थ ! क्या इस लोकमें और क्या परलोकमें उस पुरुषका कभी नाश नहीं होता । क्योंकि कल्याणकारी कार्य करनेवालोंकी कभी दुर्गति नहीं होती ।

(४१) वह योगभ्रष्ट मनुष्य पुण्यवान लोकोंमें दीर्घ कालतक रहकर फिर किसी पवित्र और धनी पुरुषके घरमें जन्म लेता है ।

(यह बात केवल योगीके विषयमें ही सच नहीं है किन्तु कोई भी मनुष्य अपना कोई काम यदि एक जन्ममें सिद्ध न कर सके तो दूसरे जन्ममें सिद्ध कर लेता है । एक जन्ममें किया हुआ अधूरा काम अधूरा ही नहीं रह जाता, दूसरे जन्ममें पूरा हो जाता है । इसी नियमसे योगमार्गसे भ्रष्ट हुआ पुरुष अपना

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

अभ्यास पूरा करनेके लिये दूसरा जन्म किसी पवित्र कुलमें लेता है। यदि वह किसी धनीके घर जन्म न ले तो—)

(४२) अथवा बुद्धिमान योगीहीके घरमें जन्म ग्रहण करता है। ऐसा जो जन्म है वह इस लोकमें बड़ा ही दुर्लभ है।

(बुद्धिमान् योगीके यहां जन्म पाकर वह योगभ्रष्ट पुरुष क्या करता है ?)

(४३) वहां उसे वह बुद्धिसंस्कार प्राप्त होता है जो उसने पूर्व जन्ममें प्राप्त किया था। और फिर उससे अपने योगकी सिद्धिके लिये यत्न करता है।

(उसकी उन्नति बहुत जल्द होती है। क्योंकि उसके कार्य-का बहुतसा अंश पहले ही जन्ममें हो चुका रहता है।)

(४४) पूर्व जन्ममें जो अभ्यास किया हुआ है उससे वह बलात् सिद्धिकी ओर खींचा जाता है। योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मके परे पहुंचता है (अर्थात् इस योगसे प्राप्त होनेवाले दुःखसंयोगवियोगरूप ज्ञानको जाननेकी इच्छा करनेवाला पुरुष

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

इस योगमार्गमें दृढ़ रहकर अन्तमें शब्दब्रह्म याने श्रुत (सुने हुए) ज्ञानके परे पहुंचकर ज्ञानरूप हो जाता है)।

(४५) योगाभ्यासका बराबर यत्न करते रहनेसे निष्पाप योगी अनेक जन्मोंके यत्नोंका बल एकत्र कर मुक्त हो जाता है।

(४६) ऐसा जो योगी है वह तपस्वीसे श्रेष्ठ है, ज्ञानीसे भी श्रेष्ठ है और (फलाशासे यज्ञ योगादिके) कर्म करनेवालेसे भी श्रेष्ठ है, इसलिये हे अर्जुन! तुम योगी बनो।

[यहां योगी शब्दका अर्थ वही है जो इस अध्यायके आरंभमें ही बता दिया गया है अर्थात् "वही संन्यासी और वही योगी है जो कर्मफलका आसरा न रखकर कर्तव्य कर्म करता है।" कर्मफल त्यागकर किस प्रकार लोकसंग्राहक कर्म करना होता है-उसके लिये चित्त किस प्रकार परमात्म-चिन्तनमें ही संलग्न रहना चाहिये और चित्तकी यह अवस्था होनेके लिये क्या साधन करना चाहिये इसी विषयका विवेचन यहांतक हुआ है और अब भगवान यह बतलाते हैं कि इस प्रकार समाहित चित्तके साथ जो योगी कर्मफलत्यागपूर्वक लोकसंग्रहार्थ कर्म करता है, (वही योगी है और) वही कृच्छ्र चांद्रायण आदि नाना प्रकारके

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः।६।

शरीरकष्टदायक तप करनेवाले तपस्वियों, ज्ञाननिष्ठाके निमित्त कर्म छोड़नेवाले ज्ञानियों और फलाशासे यज्ञयागादिक कर्म करनेवाले कर्मियोंसे श्रेष्ठ है और इसलिये तुम भी ऐसे ही योगी बनो।]

(४७) (पर) इन योगियोंमें भी सबसे श्रेष्ठ योगी मैं उसीको समझता हूं जो अपना मन सर्वथा मुझे सौंपकर श्रद्धाके साथ मेरा भजन करता है।

[यहांतक इस विषयका प्रतिपादन हुआ कि कर्मफल-सन्यासपूर्वक ज्ञानयुक्त कर्म आचरण करनेके लिये किस प्रकार ज्ञानसिद्धिके निमित्त तथा विषय-वासनाओंके जालसे छूटनेके लिये ध्यानयोगका साधन करना चाहिये। इस ध्यानयोगको बतलानेमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन सभी अंगोंका वर्णन करके बतला दिया कि इस प्रकारसे चित्त शुद्ध और ब्रह्ममें लीन होनेका अभ्यास करना चाहिये—यही ज्ञानप्राप्ति और चित्तशांतिका मार्ग है। इस प्रकार जिसका चित्त वशमें हो जाता है और ब्रह्ममें ही जो लीन है, वही पूर्णरूपसे कर्मयोगी हो सकता है अर्थात् प्रकृतिके तीनों गुणोंके बन्धनसे मुक्त होकर ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म कर सकता

है और जैसे प्रत्येक काम ही कामको सिखाता है वैसे ही कर्म-योगका आचरण ही कर्मयोग सिखाता है और उस कर्मयोगमें ज्ञान सिद्ध करनेके लिये ध्यानयोगके साथ ही साथ लोकसं-ग्रहार्थ कर्म करनेका अभ्यास करना पड़ता है। पर ऐसे ज्ञानयुक्त कर्मके साधनके लिये सबसे पहले भक्तिपूर्वक ईश्वरकी शरणमें जाना होता है। भक्तिकी शक्तिके बिना यह साधन नहीं हो सकता। केवल योगके किसी अंगकी सिद्धिके लिये भले ही कोई योगाभ्यास करे, पर वह परमपद उसी योगीको प्राप्त होता है जो भक्तिपूर्वक अपना अन्तःकरण ईश्वरको अर्पण करके ईश्वरका कार्य समझ कर ही सब कार्य करता है। इसीलिये भगवानने अन्तमें भक्तिका संकेत किया है जिसका विस्तार किसी अगले अध्यायमें किया जायगा।]

छठा अध्याय समाप्त

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

सातवां अध्याय

ज्ञान विज्ञान योग

[भक्तिपूर्वक ईश्वरकी शरण लेकर, ईश्वरके रागमें ही मगन होकर, ध्यानयोगपूर्वक निष्काम कर्मकर जिस ज्ञानकी प्राप्ति होती है वह ज्ञान क्या है यही इस अध्यायका विषय है और इसलिये इसका नाम "ज्ञानविज्ञानयोग" है । इसमें श्रीकृष्ण भगवानने विज्ञान सहित ज्ञान अर्थात् स्वानुभवसंयुक्त ज्ञान बताया है। कुछ लोग ज्ञानका परमात्मज्ञान और विज्ञानका प्रकृतिके विस्तारका ज्ञान ऐसा भी अर्थ करते हैं ।]

श्रीकृष्ण कहते हैं—

(१) हे पार्थ ! मेरी तरफ मन लगाकर, मेरा ही आश्रय ग्रहणकर योग साधन करते हुए जिस विधिसे तुम मुझे निःसंशय और पूर्णरूपसे जान सको वह विधि अब सुनो ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

(२) मैं तुम्हे वह ज्ञान विज्ञानके साथ सब बतला देता हूं जिसको जाननेपर फिर इस संसारमें जाननेकी कोई बात नहीं रह जाती।

(३) सहस्रों मनुष्योंमेंसे एकाध ही कोई मनुष्य सिद्धि पानेका यत्न करता है और इन यत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी एकाध ही कोई मुझे ठीक ठीक जान पाता है।

(४) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, मेरी प्रकृतिके ये आठ भेद हैं।

[यह सारा संसार क्या है? यह प्रकृति है जो अव्यक्त (अप्रकट) से व्यक्त (प्रकट) हुई है। अव्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अर्थात् उसके सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था ही मूल प्रकृति है जो अव्यक्त है। जब इस साम्यावस्थामें विषमता उत्पन्न होती है तब प्रकृतिकी विकृति होने लगती है यांने प्रकृति व्यक्त होने लगती है और उसके नानाविध भेद उत्पन्न होते हैं। इस अव्यक्त प्रकृतिको सांख्य मूल

प्रकृति कहते हैं, क्योंकि यह किसीसे उत्पन्न नहीं होती, स्वतः सिद्ध है—किसी प्रकृतिकी विकृति नहीं। इस मूल - प्रकृतिसे सर्व प्रथम महान् याने बुद्धि और बुद्धिसे अहंकार उत्पन्न होता है और इस अहंकारसे पंच तन्मात्राएं और ५ तन्मात्राओंसे ५ महाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश उत्पन्न होते हैं जिनसे ही यह समग्र जगत् बना हुआ है। ये मनसहित १६ गण कहाते हैं, याने १ मन, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय और ५ महाभूत। इन्हें विकार भी कहते हैं। इस प्रकार मूल प्रकृतिसे लेकर इन स्थूल पंच महाभूतोंतक (आत्माको छोड़) २४ तत्वोंसे यह सारा जगत् निर्माण हुआ है। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रकृतिके ८ ही भेद माने गये हैं अर्थात् पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार। पहले ५ तत्वोंमें उनके सूक्ष्म रूप अर्थात् ५ तन्मात्राएं (अर्थात् पंच महाभूतोंके भाव शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) भी सम्मिलित हैं। और मनसे उन तन्मात्राओंके विकार, मनसहित ५ ज्ञानेन्द्रिय और ५ कर्मेन्द्रिय समझना चाहिये। इस प्रकार मूल प्रकृति सहित २४ तत्वोंसे बना हुआ यह शरीर और विश्वशरीर सामने आ जाता है। अष्टधा प्रकृतिसे इस प्रकार २४ तत्वोंका बोध होता है। परन्तु वेदान्त-शास्त्र सांख्य-शास्त्रके २४ तत्वोंको मूल तत्व नहीं मानता; मूल तत्व आठ ही मानता है यथा—१ मूल प्रकृति, १ महान् (बुद्धि), १ अहंकार और ५ तन्मात्राएं। इसका कारण यह है कि इनमेंसे प्रत्येक तत्व अन्य दूसरे तत्वोंका कारण है

और शेष १६ तत्व जो सांख्य-शास्त्र गिनाता है वे (अर्थात् १ मन, ५ ज्ञानेन्द्रिय और ५ कर्मेन्द्रिय और पञ्च महाभूत) किन्हीं अन्य तत्वोंके कारण नहीं है जैसे ये आठ तत्व हैं। इसी बातको सांख्य-शास्त्र इस प्रकार समझाता है कि मूल प्रकृति केवल प्रकृति है—विकृति नहीं; महत् प्रकृति भी है और विकृति भी अर्थात् कारण भी है और कार्य भी—मूल प्रकृतिकी विकृति (कार्य) है और अहंकार तत्वकी प्रकृति (कारण); इसी प्रकार अहंकार महत्तत्वकी विकृति और पञ्चतन्मात्राओंकी प्रकृति है और पंच तन्मात्राएं अहंकारकी विकृति तथा पंच कर्मेन्द्रियों, पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच महाभूतोंकी प्रकृति हैं। परंतु पंच कर्मेंन्द्रिय, पंच ज्ञानेंद्रिय और पंच महाभूत केवल विकृति हैं—अन्य किसी तत्वकी प्रकृति नहीं; इसलिये ये मन सहित केवल विकृति या विकार कहे जाते हैं, प्रकृति नहीं और इसीलिये वेदान्त इन १६ विकारोंको प्रकृतिके मूल तत्वोंमें नहीं गिनता। इस प्रकार मूल तत्व आठ ही हैं। परन्तु गीतामें जिन आठ तत्वोंकी गणना की गयी है उनमें पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश ये पंच महाभूत गिनाये गये हैं जो मूलतत्व नहीं हैं। पंच महाभूतोंके साथ मन भी गिनाया गया है और वह भी मूलतत्व नहीं है। इसलिये वेदान्तके अनुसार इन शब्दोंका अर्थ भिन्न करना पड़ता है जो इस प्रकार किया गया है। पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाशको यहां स्थूल रूपमें न मानकर सूक्ष्म रूपमें अर्थात् तन्मात्रास्वरूप मानते हैं, यथा:—पृथ्वीसे पृथ्वीतन्मात्रा (गंध), जलसे जलतन्मात्रा

(रस), तेजसे तेजतन्मात्रा (रूप), वायुसे वायुतन्मात्रा (स्पर्श) और आकाशसे आकाशतन्मात्रा (शब्द)—इस प्रकार मानते हैं। इसी प्रकार मनसे मनका कारण अहंकार, और अहंकारसे मूल प्रकृतिका अर्थ ग्रहण करते हैं। ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है और वह प्रामाणिक भी है, क्योंकि स्वयं भगवान शंकराचार्यने ऐसा अर्थ किया है। पर यह पद्धति बहुत क्लिष्ट है और इसमें शब्दोंका अर्थ करनेमें अर्थोंका भी और अर्थ करना पड़ता है और अहंकारको ही मूल प्रकृति कहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त और सब शब्दोंके अर्थोंका अर्थ करनेका क्रम 'बुद्धि' का अर्थ करनेके स्थानमें गड़बड़ा जाता है, क्योंकि बुद्धिका अर्थ बुद्धि (महत्) ही करना पड़ता है। गीताके सुप्रसिद्ध टीकाकार श्रीमधुसूदन सरस्वतीको इसी शब्दार्थ परंपरामें मनका अर्थ 'मूल प्रकृति' करना पड़ा है। इसलिये ऐसे विकट मार्गको छोड़ शब्दोंका यथासंभव सरल अर्थ करनेका यत्न करना ही ठीक जंचता है और यह सरल अर्थ इस प्रकार है कि इस श्लोकमें भगवानने पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश, इन पंच महाभूतोंके स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही रूप लक्षित किये हैं अर्थात् ५ महाभूतोंके साथ उनकी ५ तन्मात्राएं भी गिनायी हैं; मन जो उभयात्मक है अर्थात् ज्ञानेंद्रिय भी और कर्मेन्द्रिय भी तथा जो सब इंद्रियोंका स्वामी है उस मनका नाम लेकर मन सहित ५ ज्ञानेंद्रियों और ५ कर्मेंद्रियोंको भी लक्षित किया है (मनमें ही सब इंद्रियोंका अन्तर्भाव किया है); और बुद्धि और अहं-

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

कार तत्वोंको गिनाकर (मूलप्रकृति सहित) २४ तत्वोंसे गठित इस शरीर और अखिल विश्वकी कार्यकारणपरंपरा दिखायी है। सांख्य-शास्त्रके ही विकारसहित २४ तत्वोंमेंसे ८ मुख्य मुख्य भेद दिखाकर उसीको अष्टधा प्रकृति कहा है।]

(५) यह मेरी अपरा (कनिष्ठ) प्रकृति है। इससे भिन्न जो प्रकृति है परा (श्रेष्ठ) प्रकृति है। वह प्रकृति जीवरूपी है जिसके सहारे यह जगत् ठहरा हुआ है।

[अष्टधा प्रकृति अपरा याने कनिष्ठ कोटिकी प्रकृति है और इस प्रकृतिके परे एक परा याने श्रेष्ठ प्रकृति है जो जीवरूपी है। इसीको जीवात्मा या पुरुष कहते हैं। और पुरुष और इस अपरा प्रकृतिके संयोगसे ही यह सारा संसार ठहरा हुआ है। यह कहकर भगवानने प्रकृतिकी स्वतंत्र सत्ताके वादका खंडन करके यह बताया है कि पुरुषकी सत्तासे ही प्रकृतिका अस्तित्व है अर्थात् इस प्रकृतिका कारण पुरुष है और इसीलिये इस प्रकृतिको अपरा और पुरुषको परा प्रकृति कहा है।]

(६) इन्हीं दो प्रकृतियोंसे सृष्टि और सारे शरीर उत्पन्न होते हैं। मैं ही सारे जगत्की उत्पत्ति और प्रलय हूं।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

[परन्तु केवल असंख्य आत्माएं और यह स्थूल सूक्ष्म प्रकृति ही सब कुछ नहीं है। प्रकृति और पुरुषके परे भी एक सत्ता है जिसे विश्वात्मा, विज्ञानात्मा या ब्रह्म कहते हैं और इसीकी सत्ता संसारकी स्थिति और संहारका आदि कारण है। इस प्रकार संसारकी कार्यकारणपरंपरा है। ब्रह्म ही आदि कारण है, ब्रह्मकी मूल प्रकृति या परा प्रकृति ही पुरुष है जो उसी ब्रह्मका कनिष्ठ रूप है और पुरुषसे उतरकर फिर यह अष्टधा अपरा प्रकृति है। इसलिये सूक्ष्मतम प्रकृतिसे लेकर स्थूलतम जड़ जगत्तक सर्वत्र ब्रह्म ही व्याप्त है। इसीलिये कहते हैं—]

(७) हे धनञ्जय! मुझसे भिन्न कहीं कुछ नहीं है। जैसे डोरेमें मणि पोये हुए होते हैं वैसे मुझमें संसारके सारे पदार्थ पोये हुए हैं।

[परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। यह सुनते सुनते हमें इस बातपर एक तरहका विश्वास भी होगया है। परन्तु जबतक इस बातका अनुभव नहीं होता तबतक सच्चा विश्वास भी नहीं हो सकता। अनुभव करनेसे फिर मिट्टीके एक एक कणमें परमात्माके दर्शन हो सकते हैं। परमात्मा इन आंखोंसे दिखायी नहीं देता। सूक्ष्म वस्तु देखनेके लिये अंदरकी आंखोंसे काम लेना पड़ता है। एक पत्थरका टुकड़ा लीजिये। यह मिट्टी-

का बना हुआ है। मिट्टीके न जाने कितने करोड़ कण इसमें हैं। वे सब इस पत्थरमें इकट्ठे हुए हैं। उनको इकट्ठे कर रखनेवाली एक शक्ति है। उस पत्थरके टुकड़ेको फोड़नेसे उसमेंसे चिनगारियां निकलती हैं। यह आग है, फोड़नेसे पहले यह छिपी हुई थी। आंखोंसे एक पत्थरका टुकड़ा दिखायी देता है। चेष्टा करनेसे उसके अन्दरकी आग दिखायी देती है। आग उस पत्थरका सूक्ष्म रूप है। उस आगका भी एक सूक्ष्म रूप है जो दिखायी नहीं देता। प्रत्येक स्थूल रूपके अन्दर इसी तरह एक सूक्ष्म रूप रहता है। सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम रूप प्रत्येक वस्तुका होता है। वह सूक्ष्मतम पदार्थ ही परमात्मा है। वही शक्ति है। वही पत्थरके एक टुकड़ेमें है और वही पृथ्वीके कणोंको, हमारे इस शरीरको और सारे संसारको एकत्र किये हुए है। परमात्मा इस प्रकारसे प्रत्येक वस्तुमें है। जल, आग, मिट्टी, सबके अन्दर परमात्मा है। परमात्मा ही मूल है। उसीसे परा प्रकृति है और उसीसे यह सूक्ष्म और स्थूल प्रकृति और जड़ पृथ्वी उत्पन्न हुई हैं।

मनुष्यके शरीरको देखिये। मूल क्या है? आत्मा। हृदय, मन, बुद्धि, अहंकार, पंचतन्मात्राएं, ये सब उसके बाहरी रूप हैं और ये भी सूक्ष्म हैं। यह शरीर उन्हीं सूक्ष्म तत्वोंका स्थूल रूप है। तात्पर्य, यह जो जड़ शरीर है इसका सूक्ष्म रूप मन और मनसे भी बहुत अधिक सूक्ष्म आत्मा है और वह आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। इसीका आगे विस्तार करते हैं—]

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥
पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

(८) हे कौन्तेय ! जलके अन्दर रस मैं हूं; सूर्य और चन्द्रमाकी प्रभा मैं हूं; वेदोंमें प्रणव (ॐ) मैं हूं; आकाशका शब्द मैं हूं और पुरुषोंका पुरुषार्थ भी मैं ही हूं ।

[जलका प्राण क्या है ? रस । इसलिये जलमें रस ही परमात्मा है । सूर्य और चंद्रके जीवनका आधार क्या है ? ज्योति । इसलिये सूर्य-चंद्रमें ज्योति ही परमात्मा है । वेदोंका सार क्या है ? शब्द ब्रह्म ॐ । इसलिये वेदोंमें ॐ ही परमात्मा है । आकाशका आधार क्या है ? उसकी तन्मात्रा जो शब्दरूप है । इसलिये आकाशमें शब्द ही परमात्मा है । पुरुषोंका स्वभाव क्या है ? पुरुषार्थ । इसलिये पुरुषोंमें पुरुषार्थ ही परमात्मा है । इसी प्रकारसे—]

(९) पृथ्वीकी जो पवित्र गन्ध है, अग्निकी जो चमक है, सब प्राणियोंका जो प्राण है और तपस्वियोंका जो तप है वह मैं हूं ।

(१०) हे पार्थ ! यह समझो कि सब भूतोंका सनातन बीज मैं हूं । जो बुद्धिमान हैं उनकी बुद्धि मैं हूं और जो तेजस्वी हैं उनका तेज मैं ही हूं ।

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥
ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

(११) मैं बलवानोंका बल हूं। (और वह बल कैसा है ?) वह बल काम और रागसे रहित है। प्राणियोंमें धर्मके विरुद्ध न जानेवाली पवित्र इच्छा है वह मैं ही हूं।

[परमात्मा यदि सर्वत्र है और सब वस्तुओंमें है तो वह केवल शुद्ध और पवित्र क्यों ? अशुद्ध और अपवित्र क्यों नहीं ? उत्तर सुनिये—]

(१२) जितने भी सात्विक, राजस और तामस भाव हैं वे मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं ; वे मेरे अंदर हैं पर मैं उनके अन्दर नहीं हूं।

[मनुष्य कई प्रकारके दिखायी देते हैं। कोई शुद्ध सात्विक है, कोई इस संसारमें अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करनेके लिये क्रोध और लोभ करता है ; कोई निद्रा, आलस्य और नशेखोरीमें चूर है। परन्तु ये लोग चाहें तो क्रोध, लोभ, निद्रा, और आलस्यको दूर कर सकते हैं और चाहें तो उनकी शरण ले सकते हैं। यह बात अनुभवसे सिद्ध है। इस प्रकार मनुष्य सत्वगुणी, रजोगुणी, अथवा तमोगुणी अपनी इच्छासे बन सकता है। प्रकृतिपर उसका प्रभुत्व हो सकता है। परमात्मा इसी प्रकार प्रकृतिका स्वामी है और इसीलिये कहते हैं कि प्रकृतिके सत्व, रज, तम,

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते ॥१४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रितः ॥१५॥
चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

इन गुणोंका मूल मैं हूं—मुझमें ये रहते हैं पर मैं इनमें नहीं रहता अर्थात् मैं स्वतन्त्र हूं ।]

(१३) इन तीनों गुणोंके भावोंसे यह सारा जगत मोहित है और (इसलिये यह) इस संसारके परे जो परम अव्यय मैं हूं उसे नहीं जानता ।

(१४) मेरी यह गुणमयी दैवी माया बड़ी जबरदस्त है। जो लोग मेरी ही शरण लेते हैं वे इस मायाको पार कर जाते हैं ।

(१५) जो लोग खोटे कर्म करनेवाले हैं, मूढ़ हैं, अधम हैं, मायासे जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है, जिनके हृदयोंमें दैत्य भाव भरे हुए हैं वे मेरी शरण नहीं लेते।

(१६) हे अर्जुन! पुण्यात्मा लोग चार प्रकारसे मेरी उपासना करते हैं। आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी (ये चार प्रकारके उपासक हैं) ।

[किसी दुःखसे दुःखी होकर उस दुःखसे उद्धार पानेके लिये जो परमात्माकी शरण लेते हैं उन्हें आर्त्त कहना चाहिये। मैं कौन हूं ? यह विश्व क्या है ? कौन इसका संचालक है और मेरा उसका क्या संबन्ध है ? इत्यादि प्रश्न जिनके हृदयमें उठते हैं और जो परमात्माको जाननेकी चेष्टा करते हैं उन्हें जिज्ञासु कहते हैं। जो मनुष्य कोई सांसारिक अर्थ सिद्ध करानेके लिये परमेश्वरकी शरण लेते हैं वे अर्थार्थी कहाते हैं और परमतत्वको जाननेवाले जो भक्त हैं वे ज्ञानी कहाते हैं। इन्द्रके कोपसे उद्धार पानेके लिये व्रजवासियोंने व्रजनाथको पुकारा था, जरासन्धके कारागारमें पड़े हुए राजा दुष्टदर्पहारी कंसारिका नाम स्मरण कर रहे थे, दुष्ट दुर्योधनकी द्यूत सभामें द्रौपदीने अपने धर्मकी रक्षाके लिये भक्तवत्सल भगवानको आत्मार्पण किया था। इन भक्तोंको आर्त्त भक्त कह सकते हैं। राजर्षि मुचुकुन्द और परमभक्त उद्धव जिज्ञासु थे। सुग्रीव और विभीषण अपना अर्थ सिद्ध करानेके लिये भगवानकी शरणमें गये थे। और सनक सनन्दन, नारद और प्रह्लाद आदि अपने ज्ञानसे ही भगवद्भक्त थे। आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी सकाम भक्त कहलाते हैं, क्योंकि इस भक्तिमें उनका कुछ मतलब होता है और ज्ञानी निष्काम भक्त है क्योंकि संसारमें उसे कोई स्वार्थ ही नहीं साधना है। इनमें जिज्ञासुका अर्थ ज्ञान ही है इसलिये यह ज्ञान प्राप्त कर ज्ञानी होता और ज्ञानियोंकी गतिको प्राप्त होता है। आर्त्त और अर्थार्थी भी ईश्वर-मार्गपर होनेसे क्रमशः

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥
बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

जिज्ञासु हो ही जाते हैं और इस प्रकार वे भी अन्तमें वही सद्गति प्राप्त करते हैं। इसलिये ये सभी भक्त पुण्यात्मा हैं। परन्तु-]

(१७) इनमें अनन्य भावसे भक्ति करनेवाला और सदा योग-युक्त रहनेवाला ज्ञानी ही श्रेष्ठ है। मैं ज्ञानियोंका बहुत ही प्रिय हूं और ज्ञानी भी मेरा प्रिय है।

(१८) ये सभी (भक्त) उदार हैं पर ज्ञानी मुझे आत्मवत् (अपने ही जैसा) मालूम होता है और वह सदा योगयुक्त रहता हुआ सबसे श्रेष्ठ गति जो मैं हूं उसे प्राप्त करता है।

(१९) (जन्म जन्मांतर ज्ञानप्राप्तिमें बिताकर) अनेक जन्मोंके उपरान्त ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है। ऐसा ज्ञानी महात्मा कोई विरला ही होता है जो सर्वत्र वासुदेव (परब्रह्म परमेश्वर) को ही देख पाता है।

(२०) अपनी अपनी प्रकृति (अर्थात् जन्म जन्मांतरोंके

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥२२॥
अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यांति मद्भक्ता यांति मामपि ॥२३॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

संस्कारों) द्वारा नियत होकर (उसी प्रकृतिके) नियमानुसार नाना प्रकारकी इच्छाओंके वशीभूत हो (आत्मरूपका) ज्ञान खो देनेवाले लोग (अपनी इच्छाएं पूरी करानेके लिये) अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं।

(२१) जो भक्त जिस रूपकी श्रद्धा-भक्ति करना चाहता है उसी रूपमें मैं उसकी श्रद्धा अचल करा देता हूं।

(२२) वह उसी श्रद्धाके साथ उस रूपकी आराधना करता है और उससे मेरे ही द्वारा नियत किये हुए फल प्राप्त करता है।

(२३) परन्तु इन अल्पबुद्धिवालोंको मिलनेवाला फल टिकनेवाला नहीं होता। जो देवताओंको भजते हैं वे देवताओंके पास जाते हैं और जो मेरी उपासना करते हैं वे मेरे पास आते हैं।

(२४) बुद्धिहीन लोग मेरे श्रेष्ठ, उत्तमोत्तम और अव्यय भावको न जानकर मुझ अव्यक्तको व्यक्त रूपमें ही जानते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

(२५) मैं अपनी योगमाया ओढ़े हुआ हूं इससे मैं सबको नहीं दिखायी देता। यह अज्ञ संसार अजन्मा और अव्यय ब्रह्मको नहीं जानता।

[सर्वव्यापी सच्चिदानन्द अव्यक्त परब्रह्म ज्ञानरूप है—उसीका व्यक्त रूप यह संसार है। इस संसारमें सर्वत्र वही व्याप्त है यह न जानकर संसारको उसके बाह्य रूपमें ही सत्य जानना मोहके वशमें होना है। यथार्थमें यह संसार ईश्वरकी माया है—माया ईश्वर नहीं है। माया ईश्वरकी वह शक्ति है जिससे संसारका जन्म, कर्म और मरण होता है। मायाके वशमें ही संसार रहता है और वह माया ईश्वरके वशमें रहती है। संसार जिस मायासे मोहित होकर संसारके आधारको भूल जाता और संसारको उसके बाह्य रूपमें ही सत्य समझता है उसको माया कहते हैं और जिस मायाशक्तिसे ईश्वर इस संसारका धारण पोषण आदि करता है उसको योगमाया कहते हैं। वह माया योगयुक्त है अर्थात् ज्ञानयुक्त है, ईश्वरके अधीन है, अपने आपको भिन्न भिन्न रूपोंमें व्यक्त करनेकी शक्ति है। भिन्न भिन्न देवता उसी शक्तिको विभूति हैं। यह सारा संसार ही ईश्वरका व्यक्त रूप है। पर यह जो नहीं जानता वह देवताओंकी उपासना करता हुआ भी उन देवताओंके रूपोंतक ही रह जाता

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यांति परंतप ॥२७॥
येषां त्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः ॥२८॥

है—ब्रह्मको नहीं जानता। वह मायाके परे न पहुंचकर मायामें ही फंसा रहता है और इस मायाको ही सर्वस्व समझता है—संसारके बाह्य रूपोंको ही परमात्मा समझता है। पर जिसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह मायाके वशमें नहीं रहता—वह मायाको जानता है, माया उसे नहीं जानती—वह त्रिकाल जानता है, पर त्रिकाल उसे नहीं जानता—वह सारे संसारको जानता है पर संसार उसे नहीं जानता। ऐसा क्यों होता है इसका कारण भी आगे २७ वें श्लोकमें बताया है।]

(२६) हे अर्जुन! मैं भूत, भविष्य और वर्तमान सब जानता हूं, पर मुझे कोई नहीं जानता।

(२७) इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले सुख दुःख आदि द्वन्द्वके मोहसे सारे प्राणी मोहित हो जाते हैं।

(२८) जिन पुण्यात्माओंका पाप नष्ट हो चुका है वे सुख-दुःखादि मोहसे दृढ़ताके साथ मेरी भक्ति करते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतंति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

इति श्रीमद्भगवत्० ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

(२९) जरा (बुढ़ापा) और मृत्युसे मोक्ष पानेके लिये जो मेरे आश्रयमें रहकर चेष्टा करते हैं वे ब्रह्म, ब्रह्मका स्वभाव और अखिल कर्मका रहस्य जानते हैं।

(३०) जो मनुष्य मृत्युके समय भी अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ मुझे जानते हैं वे स्थितप्रज्ञ पुरुष मुझे जान लेते हैं (अर्थात् मृत्युके समय भी जिनकी बुद्धि स्थिर होकर ईश्वरकी तरफ लग जाती है उन्हें ज्ञान प्राप्त हो जाता है।)

[अधिभूत अर्थात् सब भूतोंमें—पृथिव्यादि सब भूतों और प्राणिमात्रमें जिसका अधिष्ठान है—जो आधार रूपसे वर्तमान है, अधिदैव अर्थात् सब दैवी शक्तियों या देवताओंमें उनकी शक्ति या आधाररूपसे जो वर्तमान है, और अधियज्ञ अर्थात् सब सृष्टि-कर्मोंमें जो आद्याशक्तिके रूपसे—सर्वाधाररूपसे वर्तमान है वह वही ब्रह्म है—वही सच्चिदानन्द है जिसके संसारके सब कर्म लीलामात्र हैं, सब देवता जिसकी विभूतियां और यह अखिल विश्व जिसका बाह्य शरीर है। इस प्रकार जिसको ज्ञान हो जाता है—चाहे यह मृत्युके समय ही हो जाय (पर मृत्युके

समय यह ज्ञान उसीको हो सकता है जो पहलेसे उसके साधन-में लगता है)—वही ज्ञानी है उसीका ज्ञान विज्ञान (स्वानुभव-युक्त ज्ञान) है। इस प्रकार यहांतक भगवानने ज्ञानविज्ञान-योग बतलाया जिसमें सर्व प्रथम यह सृष्टि क्या है, किन तत्वों-से वह बनी है, उस सृष्टिके परे कौनसी परा शक्ति है और उस पराशक्तिके परे भी किस प्रकार ब्रह्म वर्तमान है यह बताकर उस ब्रह्मको जाननेका उपदेश दिया। फिर ईश्वरके मार्ग पर चलनेवाले चार प्रकारके भक्तोंकी चर्चा करके परम ज्ञानी भक्तके लक्षण बतलाते हुए परम ज्ञानीसे उतरकर जो भक्त हैं उनको भी अज्ञानी बतलाया क्योंकि वे ईश्वरकी योग-मायाको नहीं जानते और अन्तमें तीन शब्दोंमें ईश्वरके उपास्य रूपका वर्णन कर दिया और बतलाया कि अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ; इन तीनों रूपोंसे संयुक्त ईश्वरको जानना ही ज्ञान और विज्ञान है।]

सातवां अध्याय समाप्त

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

आठवां अध्याय
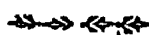
अक्षरब्रह्मयोग

[पिछले अध्यायमें यह सृष्टि क्या है, वह किन तत्वोंसे बनी है, इस सृष्टिके परे कौनसी शक्ति है, उस परा शक्तिके परे भी कौन है, यह बतलाकर ज्ञानी और अज्ञानी भक्तोंका भेद दिखलाते हुए अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ, इन तीन रूपोंसे युक्त परब्रह्म परमेश्वरको जाननेका उपदेश दिया। अब ईश्वरकी त्रिविधरूपकी विषद व्याख्या करके यह बतलाना है कि इसमें क्षर क्या है और अक्षर क्या है अर्थात् क्या अस्थिर (परिवर्तनशील) है और क्या स्थिर है, जिसमें स्थिर चित्तसे हम स्थिरकी उपासना करें। इस क्षराक्षरका निर्देश करके अक्षर-ब्रह्मकी प्राप्तिका मार्ग दिखाना है इसलिये इस अध्यायका नाम "अक्षरब्रह्मयोग" रखा गया है।]

(१) अर्जुनने प्रश्न किया—वह ब्रह्म क्या है? हे पुरुषोत्तम!

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

अध्यात्म किसका नाम है? कर्म क्या है? अधिभूत और अधिदैव किसको कहते हैं?

(२) हे मधुसूदन! अधियज्ञ कौन है और इस देहमें कौन है? जीवनयात्रा समाप्त करनेके समय आपको युक्त चित्तवाले लोग कैसे जानते हैं?

(३) श्रीकृष्ण कहते हैं—सबसे परम जो अक्षर है अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता वही ब्रह्म है। उसका जो स्वभाव है उसको अध्यात्म कहते हैं और जिस विसर्ग अथवा सृष्टि-व्यापारसे प्राणी उत्पन्न होते हैं उसकी 'कर्म' संज्ञा है।

(४) (परब्रह्मकी) परिवर्तनशील जो स्थिति है (अर्थात् बाह्यरूपमें) वही अधिभूत है। पुरुष (अर्थात् आत्मा) ही अधिदैव है (सब देवताओंका अधिष्ठान है) और हे नरश्रेष्ठ! इस देहमें मैं जो हूं वही अधियज्ञ है (अर्थात् सब सृष्टिकर्मों-का अधिष्ठान हूं जो देह द्वारा सब कर्म कराता है)।

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

(५) अन्तकालमें मेरा स्मरण करता हुआ जो पुरुष देह त्याग करता है वह निःसन्देह मेरे भावको प्राप्त करता है।

(६) जो मनुष्य जिस भावको लेकर अन्तमें शरीर छोड़ता है वह उस भावमें मगन होकर उसी भावको प्राप्त होता है।

(७) इसलिये सदा मेरा स्मरण करो और लड़ो। मन और बुद्धि मुझे अर्पण कर देनेसे तुम मुझे ही प्राप्त करोगे; इसमें सन्देह नहीं।

(८) अभ्यास करके, योगसे युक्त होकर (स्वाधीन, इधर उधर न बहकनेवाले) चित्तके साथ जो चिन्तन करता है वह उस दिव्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

(९) जो कवि (सर्वज्ञ) है, पुरातन है, शासन करनेवाला

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् १०

यदक्षरं वेदविदो वदंति विशंति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ११

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

हैं, अत्यन्त सूक्ष्म और सबको धारण करनेवाला है, जिसके रूप-की कोई कल्पना नहीं हो सकती, जो सूर्य्यके समान प्रकाशमान और अन्धकारके परे है उसका जो स्मरण करता है --

(१०) वह देह विसर्जन करनेके समय अचल मनसे, भक्ति-और योगबलसे युक्त होकर दोनों भौओंके बीचमें प्राणोंको स्थिर करके (ध्यान करता हुआ) उस दिव्य परम पुरुषको प्राप्त करता है।

(११) जिसे वेदके जाननेवाले अक्षर कहते हैं, विरक्त योगी पुरुष जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसकी इच्छासे ब्रह्मचर्य पालन किया जाता है वह (अक्षर) पद मैं तुम्हें संक्षेपसे बतलाता हूं।

(१२-१३) इन्द्रियोंको अपने वशमें कर,मनको हृदयमें स्थिर करके, प्राणको शिरमें चढ़ा जो आत्मधारणामें स्थित रहता है और ॐ इस एकाक्षर ब्रह्मका जप करता और मेरा स्मरण करता हुआ देहको छोड़ देता है वह परमगतिको प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥
सहस्रयुगपर्यंतमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

(१४) हे पार्थ ! अनन्यचित्त होकर जो मेरा नित्य स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूं।

(१५) मुझे प्राप्त करके वे महात्मा जो परम सिद्धिको प्राप्त कर चुके हैं, फिर जन्म नहीं लेते जो दुःखोंका घर है और अशाश्वत है।

(१६) ब्रह्मलोकसे लेकर सभी लोक पुनर्जन्मवाले हैं, परन्तु हे अर्जुन ! जो मेरे पास आते हैं उनको पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता।

(१७) एक सहस्र युग पर्यन्त ब्रह्माका जो दिन है और (इसी प्रकार फिर) एक सहस्र युग पर्यंत ब्रह्माकी जो रात है उस दिन रातको दिन रातके जाननेवाले जन ही जानते हैं।

[ज्ञानियोंकी दृष्टिमें दिन और रात इस समस्त विश्वब्रह्मांडकी सृष्टि और प्रलय है—सृष्टि आरम्भ होनेसे प्रलय होनेतक

दिन और प्रलयके बाद रात। ज्ञानी लोग इसीको दिन और रात समझते हैं। यह दिन सहस्र युगका होता है और रात भी सहस्र युगकी। पर यहां युग शब्दका अर्थ भी 'महायुग है जो चार युग मिलाकर होता है। प्रत्येक युगकी आयु बंधी हुई है और इस तरह प्रत्येक महायुग और ऐसे सहस्र महायुग व्यापी ब्रह्माके दिनकी भी। युग चार हैं—कृत, द्वापर, त्रेता और कलि। कृतयुगकी आयु ४ सहस्र वर्ष, त्रेताकी ३ सहस्र वर्ष, द्वापरकी २ सहस्र वर्ष और कलिकी १ सहस्र वर्ष है। परन्तु एक युग समाप्त होते ही दूसरा युग उसी क्षण नहीं आरम्भ होता, दो युगोंके बीचमें एक निश्चित सन्धिकाल हुआ करता है और उस सन्धिकालकी आयु भी बंधी रहती है। कृतयुग सबसे पहले आता है पर उसके पहले भी कलियुग बीता हुआ रहता है इसलिये एक सन्धिकाल उसके आगे और एक पीछे भी रहता है। इस तरह प्रत्येक युगके आगे पीछे सन्धिकाल रहते हैं। कृतयुगके आगे पीछेका सन्धिकाल चार चार सौ वर्ष, त्रेता-का तीन तीन सौ, द्वापरका दो दो सौ और कलिका सौ सौ वर्ष होता है और इस प्रकार चारों युगोंके सम्पूर्ण सन्धिका-लकी गणना २००० वर्ष होती है। ये दो सहस्र और चारों युगोंकी आयुके १० सहस्र वर्ष मिलाकर १२ सहस्र वर्ष होते हैं। परन्तु ये बारह सहस्र देवताओंके माने जाते हैं। इस १२००० को ३६० से गुणा करनेसे मनुष्योंकी कालगणना होती क्योंकि देवताओंका एक दिन हमारे दो अयन याने १ वर्ष-

के बराबर होता है, अर्थात् देवताओंके बारह सहस्र वर्ष मनुष्योंके १२०००× ३६०=४३, २०,००० वर्ष हुए। चारों युग अर्थात् देवताओंके १२ सहस्र वर्षका, मनुष्य गणनाके हिसाबसे एक महायुग और देवताओंका एक सादा युग होता है। देवताओंके ऐसे ७१ युगोंके जोड़को मन्वंतर कहते हैं और ऐसे १४ मन्वंतर होते हैं और ऐसे प्रत्येक मन्वंतरके आरम्भ और अन्तमें कृपुस्त (सन्धिकाल) सहित कृतयुगके कालके बराबर और सन्धिकाल होता है। १४ मन्वन्तरोंके ऐसे १५ सन्धिकाल बीतते हैं। ये १५ सन्धिकाल और १४ मन्वंतर मिलाकर देवताओंके एक सहस्र युग अर्थात् ब्रह्माका एक दिन होता है और फिर ऐसे सहस्र युग बीतनेपर ब्रह्माकी रात होती है। इस हिसाबसे ब्रह्माके एक दिनका अर्थ हुआ मनुष्योंके ४ अब्ज ३२ करोड़ वर्ष। इसीको कल्प कहते हैं। कल्पारम्भमें अव्यक्त प्रकृति व्यक्त होने लगती है और कल्पान्तमें सब पदार्थ अव्यक्तमें फिर मिल जाते हैं। ऐसे ३६० दिन और ३६० रातमें ब्रह्माका एक वर्ष होता है। ऐसे १०० वर्ष ब्रह्माकी आयु है। इस हिसाबसे इस समय ब्रह्माकी आधी आयु बीत चुकी है और यह श्वेतवाराहकल्प उसके ५१ वें वर्षका पहला दिन है। इस कल्पके १४ मन्वतरोंमेंसे ६ मन्वंतर बीत चुके हैं और ७ वें याने वैवस्वत मन्वन्तरके ७१ महायुगोंमेंसे २७ महायुग बीत चुके हैं और २८ वें महायुगके कलियुगका प्रथम चरण अभी चल रहा है जिसके ५००० वर्ष बीत चुके हैं। इस हिसाबसे कलिके अन्तमें होने-

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

वाले प्रलयमें अभी ४ लाख २७ हजार वर्ष बाकी हैं। इस प्रकारसे ब्रह्माके दिन और रातका विवेचन गीता-रहस्यकार लोकमान्य तिलकने सूर्य सिद्धान्त, मनुस्मृत, निरुक्त, विष्णुपुराण आदि अनेक ग्रन्थोंके आधारपर किया है। दिन रातका जो यह विवेचन है, वही इस श्लोकमें लक्षित है। हमारा एक वर्ष देवताओंका एक दिन होता है और देवताओंके १२००० वर्ष अर्थात् हमारे ४३ लाख २० हजार वर्षका एक देवयुग अथवा हमारा महायुग होता है। ऐसे ७१ महायुगोंका एक मन्वन्तर होता है और ऐसे १४ मन्वन्तरोंका एक देव सहस्रयुग अर्थात् ब्रह्माका एक दिन होता है और ऐसे ही सहस्र देवयुगोंकी ब्रह्माकी एक रात होती है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष इसीको रात दिन समझते हैं।]

(१८) दिनके उदय होनेपर सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और रात आनेपर फिर अव्यक्तमें समा जाते हैं।

(१९) हे पार्थ! भूतोंको ये समुदाय बार बार उत्पन्न होकर रात आनेपर फिर फिर लयको प्राप्त होते हैं और दिन निकलनेपर फिर उत्पन्न होते हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यांतःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥
यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

(२०) (पर जिस अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृतिसे ये सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं) उस अव्यक्तके परे जो सनातन अव्यक्त अर्थात् ब्रह्म) है वह सब भूतोंके नाश होनेपर भी नष्ट नहीं होता।

(२१) उसका नाम अव्यक्त अक्षर है; उसीको परम गति कहते हैं—जिसे पाकर फिर कोई नहीं लौटता—यही मेरा परम धाम है।

(२२) हे पार्थ! वह परम पुरुष है; अनन्य भक्तिसे उसकी प्राप्ति होती है—जिसके अन्दर सब भूत हैं और जिसने इस अखिल विश्वब्रह्मांडको व्याप्त कर रखा है।

(२३) हे भरतश्रेष्ठ! अब तुम्हें मैं वह काल बतलाता हूं जिस कालमें योगी लोग प्रयाण करके लौटते हैं या नहीं लौटते।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥२६॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

(२४) अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायणके छ मास—इसमें प्रयाण करनेवाले ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको जाते हैं।

(२५) धूम (धूंआ), रात, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनके छ मास—इसमें (प्रयाण करनेवाला) योगी चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त करके फिर लौट आता है।

(२६) जगतकी शुक्ल और कृष्ण ये दोनों गति शाश्वत मानी गयी हैं। एकसे लौटना नहीं पड़ता और दूसरीसे फिर लौट आना पड़ता है।

(२७) इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला योगी, हे पार्थ! कभी मोहमें नहीं फंसता। इसलिये सदा सर्वदा, हे अर्जुन! योगमें ही रत रहो।

[२३ वें श्लोकसे इस २७ वें श्लोकतक जिस विषयका वर्णन है वह मरणके पश्चात्‌का विषय होनेसे हम जैसे साधारण

मनुष्यकी बुद्धि या कल्पनाशक्ति यहां कुछ: काम नहीं करती। यह तो मृत्युके पश्चात् ही प्रत्यक्ष होगा कि कौन किस कालमें देह छोड़कर अथवा देह छोड़नेपर किस मार्गसे जाकर किस गतिको प्राप्त होता है। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायणके ६ मास, इसमें प्रयाण करनेवाले ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको जाते है और धूम, रात, कृष्ण- पक्ष, दक्षिणायनके छ मास, इसमें प्रयाण करनेवाले योगी चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त करके फिर लौट आते हैं। इसका अर्थ क्या है ? यह तो स्पष्ट ही है कि पहली गति ब्रह्मोपासक योगीकी है और दूसरी उस योगाभ्यासीको जो अभी फलाशासे निवृत्त नहीं हुआ है। अब इन गतियोंका वर्णन करनेवाले शब्दोंपर विचार करें। दोनोंमें अयन (उत्तरायण और दक्षिणायन), पक्ष और दिनरात ये जो शब्द आये हैं सो स्पष्ट ही कालवाचक हैं। परन्तु अग्नि, ज्योति और धूम ये शब्द कालवाचक नहीं हैं। इसलिये कालवाचक शब्दोंके साथ आपाततः इनका मेल नहीं बैठता। यह हो सकता है कि उत्तरायण, शुक्लपक्ष और दिन—इस प्रकाशमय कालका वर्णन करनेके लिये अग्नि और ज्योति शब्द आये हों। और दक्षिणाय (जो देवताओंकी रात है) कृष्णपक्ष और रात इस अन्धकारमय कालका वर्णन करनेके लिये धूम शब्द आया हो। ऐसा अर्थ करनेसे यह तात्पर्य निकलता है कि ब्रह्मोपासक योगी उत्तरायणके शुक्ल अथवा अग्नि और ज्योतिसे युक्त प्रकाशमय-दिनमें देहत्याग कर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं और जो दूसरी श्रेणीके

साधक हैं वे दक्षिणायन (देवताओंकी रात) में कृष्ण अथवा धूममय अर्थात् अज्ञानकी अवस्थामें देहत्याग करके चंद्रलोककी गति प्राप्तकर फिर अपना योग संपूर्ण करनेके लिये मृत्युलोकमें लौट आते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानी ज्ञानकी अवस्थामें देह त्यागकर ज्ञानमय—प्रकाशमय मार्गसे जाकर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं और फलाशायुक्त कर्म करनेवाले योगी अज्ञानकी अवस्थामें देह त्यागकर अज्ञानके कारण चंद्रलोकसे फिर मृत्युलोकमें लौट आते हैं।

ऐसा अर्थ करनेसे उत्तरायण और दक्षिणायन इन शब्दोंका अर्थ केवल ज्ञानकी अवस्था और अज्ञानकी अवस्था यही हो जाता है। यही अर्थ सब भाष्यकारोंने ग्रहण किया है, पर इसके साथ ही अग्नि, ज्योति, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन इन शब्दोंमें मरणके पश्चात् जीवात्माको चंद्रलोक अथवा ब्रह्मलोकमें ले जानेवाले देवताओंका दर्शन कराया है और यह बताया है कि यहां काल शब्दका गति याने मार्गसे अभिप्राय है और इस मार्गमें ये देवता जीवात्माके पथप्रदर्शक होते हैं। छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा कौषीतकी आदि उपनिषदोंमें भी इन मार्गोंका वर्णन है और वहां इन दो मार्गोंको देवयान पथ और पितृयान पथ कहा है। छान्दोग्योपनिषद्में इसका इस प्रकार वर्णन है—

"इस प्रकार यह जो जानते हैं और जो अरण्यमें श्रद्धा और तप करते हैं वे सब अर्चिरभिमानी देवताके पास जाते हैं।

अर्ची (अग्नि) से दिन, दिनसे शुक्ल पक्ष, शुक्ल पक्षसे उत्तरायणके छ मास, छ माससे संवत्सर, संवत्सरसे आदित्य, आदित्यसे चन्द्र, और चन्द्रसे विद्युत् (को प्राप्त होते हैं) और वहां विद्युत्में अमानव पुरुष आकर उन्हें ब्रह्मके समीप ले जाता है। यह देवयान मार्ग है। जो ग्राममें इष्ट, पूर्त और दानकी उपासना करते हैं वे धूमके समीप जाते हैं, धूमसे रात्रि, रात्रिसे कृष्णपक्ष, कृष्णपक्षसे दक्षिणायनके छ मास। दक्षिणायनसे ये संवत्सरको नहीं जाते। दक्षिणायनसे पितृलोक, पितृलोकसे आकाश, आकाशसे चन्द्र। यही सोम राजा है। यही देवताओंका अन्न है। इसे देवता भोग करते हैं। कर्मका क्षय होनेतक इस स्थानमें रहकर इसी मार्गसे फिर लौटते हैं। अर्थात् चन्द्रसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे धूम, धूमसे अभ्र होता है। अभ्र होकर मेघ होता है। मेघ होकर बरसता है। तब वे (प्राणी) व्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल, उर्द आदि रूपसे जन्म लेते हैं। उनसे, बाहर निकलनेके लिये कठोर ऐसा अन्न होता है। यह अन्न जो भक्षण करता है उसीके आकारका (प्राणी) उत्पन्न होता है।"

ऐसा ही वर्णन बृहदारण्यक और कौषीतकी उपनिषदोंमें कुछ शब्दोंके हेरफेरके साथ आया है। ब्रह्मसूत्रोंमें भी यही वर्णन है जिससे यह मालूम होता है कि मरनेके पश्चात् कर्म और ज्ञानके अनुसार जीवात्माको इन भिन्न भिन्न लोकोंसे होकर ब्रह्मलोकतक जाना या चन्द्रलोकसे फिर लौट आना पड़ता है।

इस वर्णनसे यही मालूम होता है कि ऋषि मृत्युके पश्चात्‌की दो गतियों या मार्गों (देवयान और पितृयान) का वर्णन कर रहे हैं। एक मार्ग ब्रह्मोपासक योगीका और दूसरा श्रद्धाके साथ फलाशायुक्त साधकका है। साधकका मार्ग मृत्युसे लेकर फिर जन्म लेनेतक विस्तारके साथ बताया है। उपनिषदोंमें इन दो पथोंका वर्णनकर फिर एक तीसरे पथका भी वर्णन किया है। वह पथ है केवल उन भोगी जीवोंका जो केवल आहार, निद्रा, भय, मैथुनमें ही रत रहते हैं। उक्त वर्णनसे यह स्पष्ट होता है कि ये दोनों मार्ग हैं जिन्हें गीतामें शुक्ल (प्रकाशमय) और कृष्ण (अन्धकारमय) गति कहा है।

परन्तु यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ये मार्ग हैं तो इन्हें काल क्यों कहा है। भगवान् स्पष्ट ही कहते हैं कि "वह काल मैं तुम्हें बतलाता हूं" इ० और फिर दिवस, शुक्ल पक्ष और उत्तरायणके छ मास इत्यादि कालवाचक शब्द भी स्पष्ट ही हैं। और यह भी सबको विदित है कि भीष्मपितामह शरशय्यापर पड़े हुए शरीरसे उत्क्रमण करनेके लिये उत्तरायण कालकी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। इसपर गीतारहस्यकारने लिखा है कि, " .... दिवस, शुक्लपक्ष और उत्तरायण काल ही मृत्युके लिये किसी समय प्रशस्त माने जाते थे। ऋग्वेदमें भी देवयान और पितृयान मार्गोंका जहांपर वर्णन है वहां कालवाचक अर्थ ही विवक्षित है। इससे तथा अन्य अनेक प्रमाणोंसे हमने यह निश्चय किया है कि, उत्तर गोलार्द्धके जिस स्थान-

में सूर्य क्षितिजपर छ महीनेतक सदा देख पड़ता है, उस स्थानमें अर्थात् उत्तर ध्रुवके पास या मेरु स्थानमें जब पहले वैदिक ऋषियोंकी बस्ती थी, तभीसे छः महीनेका उत्तरायणरूपी प्रकाशकाल मृत्यु होनेके लिये प्रशस्त माना गया होगा। ...... अधिक क्या कहें, हमें तो ऐसा मालूम होता है कि इन दोनों मार्गोंका मूल इस प्राचीन समझमें ही है।"

यदि यह अर्थ स्वीकार कर लें तो आगे और कुछ सोचनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती और यही मानकर संतोष कर लेना पड़ता है कि जब आर्य लोग उत्तरध्रुव स्थानमें थे तब वहांकी छ महीनेकी रात और छ महीनेका दिन देखकर, दिनमें सूर्यका प्रकाश रहते मृत्युका होना इष्ट और तद्विपरीत अनिष्ट माना जाता था और वही ख्याल आजतक चला आता है; अन्यथा उत्तरायण और दक्षिणायनका मरणके पश्चात्की गतिसे कोई संबन्ध नहीं है। परन्तु इससे गीताके ये श्लोक तथा उपनिषदोंके वचनोंका महत्व केवल इतना ही रह जाता है कि ये आर्योंके उत्तरध्रुववासका स्मरण दिलाते हैं। यह एक अर्थ हुआ।

परन्तु उपनिषदोंके वचन स्पष्ट हैं। इन वचनोंमें मरणके पश्चात्के मार्गोंका ही निश्चयपूर्वक वर्णन है। गीतामें इन्हीं मार्गोंको शुक्ल और कृष्ण गति कहा है। पर गीतामें एक और विशेषता यह है कि इन गतियोंको भगवानने 'काल' भी कहा है। काल शब्दका अर्थ कुछ लोग गति ही करते हैं। पर शार-

शय्यापर पड़े भीष्म जिस उत्तरायणकी प्रतीक्षा कर रहे थे वह उत्तरायण काल ही था यह स्पष्ट है और गीता ग्रन्थन करनेवाले महाभारतकार श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान वेदव्यासने ही शरशय्याकी वह कथा भी लिखी है इसलिये दोनों स्थानोंमें एक ही अभिप्राय होना चाहिये—जो अर्थ शर-शय्याकी कथामें होगा वही गीतामें भी माना जायगा। वहां जब उत्तरायणका अर्थ काल है तब यहां भी काल शब्दका अर्थ बदलनेका कोई प्रयोजन नहीं। और इन श्लोकोंमें जो कालवाचक शब्द—अयन, दिन रात, शुक्ल कृष्ण पक्ष इत्यादि—आये हैं वे कालवाचक होनेके साथ ही साथ गतिसूचक भी हैं, क्योंकि मकर संक्रान्तिसे ६ राशि पर्यन्त सूर्यकी गतिका नाम ही उत्तरायणकाल है और आगेकी ६ राशियोंतककी गतिका ही नाम दक्षिणायन है। इसी प्रकार पक्ष और अहोरात्रकी बात है। इस लिये उत्तर दक्षिणायनादि कालवाचक शब्द गतिसूचक भी हैं और इसीलिये इन्हें काल और गति दोनों कहा है। काल, अयन, पक्ष, दिवस आदि शब्दोंसे तत्तदभिमानी देवताओंका अर्थ ग्रहण करनेमें भी बाधा नहीं है; पर देवताओंका अवस्थान उन्हीं वस्तुओंमें होता है जिसके वे देवता होते हैं। जैसे उत्तरायणाभिमानी देवता उत्तरायणमें ही रहते हैं। दिवसाभिमानी देवता दिवसमें ही रहते हैं। इसलिये देवताओंका अर्थ ग्रहण करनेसे भी इस अर्थमें कोई बाधा नहीं पड़ती कि इन श्लोकोंमें कालवाचक शब्द काल, गति, तथा तदभिमानी देवताओंके सूचक हैं। ऐसा

अर्थ मान लेनेपर भीष्मजीकी शरशय्या-कथाके अनुसार ही श्लोकोंका अर्थ करना पड़ता है।

भीष्मजी गिरे। गिरते समय उन्होंने देखा कि सूर्य दक्षिण दिशामें है। इस लिये कालका विचार करके उन्होंने फिर संज्ञा लाभ की और अन्तरिक्षसे यह देववाणी भी सुनी कि—

> कथं महात्मा गांगेयः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
> कालं कर्ता नरव्याघ्रः संप्राप्ते दक्षिणायने॥

सब क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ महात्मा भीष्म दक्षिणायनमें प्राण क्यों छोड़ रहे हैं? ऋषि लोगोंने भी भीष्मजीके पास जाकर यही प्रश्न किया। भीष्मजीने उत्तर दिया—

> ... ... नाहं गन्ता कथंचन।
> दक्षिणावर्त आदित्ये एतन्मे मनसि स्थितम्॥
> गमिष्यामि स्वकं स्थानं आसीद्यन्मे पुरातनम्।
> उदगयन आदित्ये हंसाः सत्यं ब्रवीमि वः॥

"मैं (इह लोक छोड़कर) अभी गया नहीं हूं। आदित्य दक्षिणावर्तमें है, यह मैं जानता हूं। जब वह उत्तरावर्तमें आ जायगा तभी मैं अपने पुरातन स्थानको जाऊंगा। यह सत्य जानना।"

इस प्रकार इन श्लोकोंके तीन अर्थ किये जाते हैं। एक उपनिषदोंका अर्थ है जो सभी आचार्योंने माना है और जिसमें उत्तरायणादि देवता, लोक या तत्त्व माने गये हैं और यह निश्चय किया गया है कि इनका अर्थ मरणके पश्चात्की गतिसे संबंध रखता है। दूसरा अर्थ लोकमान्य गीतारहस्यकारका है; और तीसरा अर्थ स्वयं महाभारतका है जिसमें उत्तरायणादि

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥८॥

इति श्रीमत्० तारकब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

के अर्थमें गतिके साथ साथ कालका भी समावेश हो जाता है और इसके साथ यह भी सूचित होता है कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष मृत्युके अधीन नहीं है, मृत्यु उसके अधीन है और इसलिये वह चाहे जब शरीर छोड़ सकता है और शरीर छोड़नेपर वह प्रकाशमय मार्गसे ही अपने सनातन स्थानको जाता है। ऐसे जो ब्रह्मवेत्ता या ब्रह्मज्ञानी योगी हैं उनका आगे वर्णन करते हैं—]

(२८) वेदोंसे, यज्ञोंसे, तपोंसे तथा दानादिसे जो पुण्य फल मिलता है वह उस योगीके लिये कोई चीज नहीं है जो यह सब जानता है। वह उस परम धामको प्राप्त करता है जो (सबका) आद्यस्थान है।

[ब्रह्म अक्षर है—उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता; उसका स्वभाव अध्यात्म है—आत्मरूपमें ही अवस्थित रहना उसका भाव है; और यह सारा सृष्टिव्यापार उसका कर्म है। यह सृष्टि क्षर है—परिवर्तनशील है—आज जिस रूपमें है, कल उस रूपमें न रहेगी; संसारके समस्त जड़ चेतन पदार्थोंकी भिन्न भिन्न आत्माएं ही देवता हैं और देवता ईश्वरके ही रूप हैं जो जड़ शरीर द्वारा कर्म करते हैं। इस प्रकार मूल स्थान—परमधाम वही अक्षर ब्रह्म है। इसलिये इस देहका मोह छोड़कर अथवा देह छूटनेके

समय देहके साथ इस सारी क्षर सृष्टिका मोह छोड़कर जो ब्रह्मके स्वभावमें तन्मय हो जाता है वह इस सारी सृष्टिके सूत्रधारके स्थानमें पहुंच जाता है। कारण, यह नियम है कि जो जिस भावको लेकर शरीर छोड़ता है वह उसी भावको प्राप्त होता है। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान उपदेश देते हैं कि, "मामनुस्मर युद्ध्यच (मेरा स्मरण कर मेरे पीछे चलो और युद्ध करो)" अर्थात् ईश्वरकी आज्ञाका पालनकर—लोकसंग्राहक कर्म करो, अपने किसी क्षुद्र स्वार्थके लिये नहीं प्रत्युत ईश्वरके लिये। सारे कर्म ईश्वरको अर्पण करो—इससे ईश्वर प्राप्त होगा। जो योगपूर्वक इस प्रकार संसारयात्रा करते हैं उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है। (१—१५) जिन्ह मोक्ष प्राप्त नहीं होता उन्हें अन्य लोक और भोग प्राप्त होते हैं पर ये सब क्षर हैं—परिवर्तनशील हैं—दिन और रातके चक्करमें घूमा करते हैं। जो ज्ञानी हैं वे सृष्टिकी स्थिति और प्रलय—दिन और रातका रहस्य जानते हैं और इसके परे अक्षर ब्रह्मके पास जाना ही अपनी इतिकर्तव्यता समझते हैं। वे ज्ञानकी अवस्थामें ज्ञानके ही प्रकाशमय मार्गसे ज्ञानके ही परम धामको प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो इस परम धाममें नहीं जाना चाहते वे अज्ञानकी अवस्थामें अज्ञानके ही अंधकारमय मार्गसे यात्रा करते और भोग भोगते हुए रहते हैं। यह रहस्य जानकर जो पुरुष ब्रह्मार्पण योगमें रत रहता है वह सुखदुःखमूलक इस संसारके मोहमें न फंसकर अक्षर ब्रह्मके ही समीप जाता है। (१६-२८)]

आठवां अध्याय समाप्त

नवमोऽध्याय

००००००

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

नवां अध्याय

—:०:—

राजविद्याराजगुह्ययोग

[पिछले अध्यायमें क्षर सृष्टि और अक्षर ब्रह्मका भेद बतला-कर उस अक्षर ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये श्रीकृष्ण भगवानने अर्जुन-को उपदेश दिया कि ईश्वरका स्मरणकर, उसीको सब कार्य अर्पण करनेको बुद्धिसे युक्त होकर उसकी आज्ञाका पालन करो, इसीसे तुम्हारा उद्धार होगा और वह पद प्राप्त होगा जिसके सामने सांसारिक सुखभोग और सिद्धियां तुच्छ हैं। पर यह कैसे होगा? पहले तो हम जैसे साधारण मनुष्योंको वास्तविक रूपसे यह विश्वास ही नहीं होता कि यह अध्यात्मज्ञान ज्ञान है, सत्य है। नाना प्रकारकी शंकाएं होती हैं। सत्यमें असत्य, ज्ञानमें अज्ञान और गुणमें दोष दिखायी देता है। जबतक यह दोषदृष्टि दूर नहीं होती तबतक ज्ञानका अधिकार भी नहीं होता।

जिनकी यह दोषदृष्टि दूर हो गयी है, हृदय शुद्ध हो गया है उन्हींके लिये यह अध्याय है, यह इस अध्यायके आरंभमें ही बताया गया है। राजविद्या राजगुह्ययोग इस अध्यायका नाम है अर्थात् इसमें हमें ज्ञानकी कुछ ऐसी रहस्यमय बातें मालूम होंगी जिनसे आंखोंपरसे परदा हट जायगा और ईश्वरप्राप्तिका वह निश्चित मार्ग मालूम होगा जिसपर हम चलकर भगवानके मन्दिरमें पहुंच सकें।]

(१) तुम गुणमें दोष देखनेवाले नहीं हो, इसलिये तुम्हें अब वह ज्ञान विज्ञानके साथ बतलाता हूं जो अत्यंत गूढ़ है और जिसे जानकर तुम दुःखसे छूट जाओगे।

[ज्ञान किसको बतलाया जाता है? जिसको अधिकार हो—जिसका हृदय इतना शुद्ध हो कि वह उस ज्ञानको ग्रहण कर सके, इसलिये भगवान यहां अर्जुनसे कहते हैं कि तुम्हारा हृदय शुद्ध है इसलिये मैं तुमको अब वह ज्ञान विज्ञानके साथ बतलाता हूं जिससे तुम दुःखसे छूट जाओगे। विज्ञानके सहित अर्थात् ब्रह्मानुभवके साथ वह ज्ञान बतलाता है। ब्रह्मानुभवकी बातोंको जो भंडाचार समझते हैं उन्हें यह ज्ञान बतानेका प्रयोजन नहीं, यह उनकी समझमें नहीं आ सकता। इसलिये यह अत्यंत गूढ़ ज्ञान केवल अधिकारीको ही बताया जाता है। इसलिये आगे कहा है कि यह राजविद्या राजगुह्य है अर्थात् यह विद्या सब विद्याओंमें श्रेष्ठ है जिससे गुह्य बात संसारमें और कोई नहीं है और जो अधिकारीके सिवा अन्य पुरुषोंसे गुप्त ही रखनी चाहिये।]

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तंते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

(२) यह राजविद्या है (अर्थात् सब विद्याओंमें श्रेष्ठ विद्या है), राजगुह्य है (अर्थात् इससे अधिक गुप्त बात कोई नहीं है), यह पवित्र उत्तम (ज्ञान) प्रत्यक्ष रूपसे प्राप्त होनेवाला, धारण करने योग्य, सुखसे साधन करने योग्य और सदा टिकने वाला है।

(३) हे परंतप ! इस धर्मपर जो लोग श्रद्धा नहीं करते वे मुझे न पाकर इस मर्त्य लोकके मार्गपर लौट आते हैं।

(४) निराकार रूपसे मैं इस जगतमें व्याप्त हूं। सारे जड़ जीव जगत मुझमें ही रहते हैं; मैं उनके अन्दर नहीं रहता। (अर्थात् मेरे सहारे सारा संसार है पर मैं उसके सहारे नहीं हूं।)

(५) और सारा संसार मुझमें नहीं भी है। यह मेरा ईश्वरी योग देखो। जगतको उत्पन्न करनेवाला मेरा आत्मा जगतको धारण करके भी जगतके अंदर नहीं है।

[परब्रह्म परमात्मा इस जगतके अन्दर सर्वत्र व्याप्त हैं अर्थात् कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां परमात्मा न हो। परमात्मामें

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

ही यह संसार और संसारके सब प्राणी हैं. पर परमात्मा संसारके अंदर नहीं है अर्थात् संसार परमात्माके सहारे है, परमात्मा संसारके सहारे नहीं। चौथे श्लोकमें यह बतलाया और ५वें श्लोकमें यह बतलाते हैं कि; "सारा संसार मुझमें नहीं भी है।" है भी और नहीं भी, यह कैसे हो सकता है? इसलिये इसका मतलब यह है कि संसार परिवर्तनशील है और ऐसे परिवर्तनशील संसारके ईश्वरमें होनेका अर्थ यदि कोई यह समझे कि यह ब्रह्मका ही एक अंश है और इस प्रकार संसारके परिवर्तनमे ब्रह्मका ही अंशतः परिवर्तन माने तो वह मिथ्या कल्पना है। संसार केवल नाम और रूप है और नामरूप (जो परिवर्तनशील हैं) ब्रह्मके अंश नहीं हो सकते। ब्रह्म अखंड, अपरिवर्तनीय और अनन्त है। उसीमें यह खंडस्वरूप, परिवर्तनशील और शांत संसार है पर यह ब्रह्मके ब्रह्मत्वका अंश नहीं है। यह ईश्वरका कर्म है जो कर्म कर्त्तापर बंधनकारक नहीं है। यह ईश्वरकी लीला है। इसीको ईश्वरी योग या योगमाया कहते हैं। यह परमात्मा और जगतके बीचकी शक्ति है। यह शक्ति परमात्माकी ही है, उसीका बाह्यरूप यह संसार है। इस प्रकार परमात्मा जगतको धारण करके भी जगतके अंदर नहीं है।]

(६) जिस प्रकार सर्वत्र संचार करनेवाली महान् वायु सदा आकाशमें स्थित है उसी प्रकार यह सारा जगत मुझमें स्थित है।

सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यांति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

[जैसे आकाशसे वायुमंडलका सम्बन्ध है वैसे ही निराकार परमात्मासे इस विश्वमंडलका संबंध है। आकाश वायुमंडलसे स्वतंत्र है वैसे ही परमात्मा विश्वब्रह्माण्डसे स्वतन्त्र है। जैसे आकाश न हो तो वायुका अस्तित्व असंभव है, वैसे ही परमात्मा न हो तो इस विश्वब्रह्माण्डका रहना असंभव है। पर करने करानेवाला सब ईश्वर ही है।]

(७) कल्पान्तमें सारा जगत मेरी प्रकृतिमें मिल जाता है। कल्पारंभमें मैं फिर उसे उत्पन्न करता हूं।

(८) मैं अपनी प्रकृतिको वशमें करके, प्रकृतिके वशमें रहनेसे अवश (बेबस) हुए इन समस्त प्राणियोंको वारंवार उत्पन्न करता हूं।

[यहां उस ईश्वरी योगका अर्थ और भी स्पष्ट कर दिया है जिसका उल्लेख पांचवें श्लोकमें किया है। संसार और ईश्वरका संबंध देह और आत्माके समान है। यही संबंध हमारे आत्मा और शरीरके बीचमें है। पर ईश्वर प्रकृतिका प्रभु है और हम उसी प्रकृतिके दास हैं। हमारे इसी दासत्वके कारण ईश्वर अपनी अधीनस्थ प्रकृतिसे पराधीन प्राणियोंको वारंवार उत्पन्न करता है। अब आगे बतलाते हैं कि ईश्वर यह जो कर्म करता है

न च मां तानि कर्माणि निबध्नंति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥
अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

वह उसपर बंधनकारक नहीं होता, क्योंकि यह उसीकी लीला है । यही ईश्वरी योग और यही योगमाया है ।]

(९) ये जो कर्म मैं करता हूं, हे धनंजय ! वे मुझे बन्धन नहीं करते—मैं उन कर्मोंमें उदासीनसा और असक्त रहता हूं ।

(१०) मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति ही इस चराचर सृष्टिको प्रसव करती है । इसी कारणसे हे कौंतेय ! जगत परिवर्तन होता रहता है ।

(११) मूर्ख लोग मेरे परंभावको न जानकर मनुष्य शरीर धारण किये हुए मुझ जगदीश्वरकी अवज्ञा करते हैं ।

[ईश्वरका परंभाव वही है जो इस दृश्य संसारके परे इसका आत्मा है, जो घट घटमें विराजमान है । इसको न जानकर, इसका ध्यान न करके, जो मनुष्यके आत्माको मनुष्य-शरीर समझता है वह परमात्माका अपमान करता है । यह इस श्लोकका सामान्य अर्थ है । विशेष अर्थ यह है कि भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ईश्वरके षोडश कलापूर्ण अवतार थे और वही अ-

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥१३॥

जुनसे कहते हैं कि मेरा यह मानव शरीर केवल संसारहितका एक साधनमात्र है और मैं तो स्वयं ब्रह्म हूं; मेरे ब्रह्मत्वको न जानकर जो केवल इस शरीरपर ही मोहित हैं वे असली श्रीकृष्ण-चन्द्रको भूलाकर उसके संसारसागरमें पड़े हुए प्रतिबिंबको ही सब कुछ समझ लेते और इस प्रकार मेरी अवज्ञा करते हैं। इसका कारण क्या है?—]

(१२) इनकी आशा, इनके कर्म और इनका ज्ञान सब व्यर्थ है; इनका चित्त ठिकाने नहीं है और ये लोग मोहनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृतिकी शरणमें रहते हैं।

[आगे चलकर दैवासुर-संपद्विभाग-योगमें दैवी संपत्ति और आसुरी संपत्ति ये दो ही भेद माने गये हैं। पर इस श्लोकमें आसुरी संपत्तिको भी दो भागोंमें विभक्त किया है—राक्षसी और आसुरी। इसलिये टीकाकारोंने राक्षसी अर्थात् तामसी और आसुरी अर्थात् राजसी (प्रकृति), ऐसा अर्थ किया है।]

(१३) परन्तु जो महात्मा दैवी प्रकृति रखते हैं वे सृष्टिके आदितत्व अव्यय (परमात्मा) की अनन्य भावसे भक्ति करते हैं।

सततं कीर्तयंतो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाऽऽज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥
पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥१७॥

(१४) वे सदा मेरा कीर्तन और योगसाधन करते हुए दृढ़-व्रती होकर मुझे नमन करते और सदा योगमें रत रहते हुए भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं।

(१५) अन्य कुछ भक्त ऐसे भी हैं जो ज्ञानयज्ञसे (अर्थात् ब्रह्मानुसंधानसे) ब्रह्म और सृष्टिको एक ही अथवा पृथक् पृथक् मानकर अनेक प्रकारसे मुझ विश्वरूपकी उपासना करते हैं।

(१६) मैं क्रतु[1] हूं, मैं ही यज्ञ[2], स्वधा[3], अन्न, मंत्र, आज्य (घृत), अग्नि और आहुति हूं।

(१७) इस संसारका मैं पिता हूं; मैं ही माता, धाता (आधार)

१ अश्वमेधादिक वैदिक यज्ञोंको क्रतु कहते हैं।
२ स्मार्त यज्ञोंको यज्ञ कहते हैं जो देवपूजा, वैश्वदेव, अतिथिसत्कार, प्राणायाम, जप इत्यादि हैं।
३ स्वधा अर्थात् पितरोंको अर्पण किया जानेवाला अन्न।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयंते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नंति दिव्यान्दिवि देवभोगान् २०

और पितामह हूं। मैं ही वेद्य (जानने योग्य), पवित्र ॐ हूं; और मैं ही ऋक्, साम और यजुर्वेद हूं।

(१८) मैं इस जगतकी गति, इसका पालक, साक्षी, निवास, शरण और सखा हूं; मैं ही उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, निधन और अव्यय बीज हूं।

(१९) मैं ही (संसारको) तपाता हूं, मैं ही वर्षाको रोकने और छोड़नेवाला हूं। हे अर्जुन! मैं ही अमृत, मैं ही मृत्यु और मैं ही सत् और असत् हूं।

[इस प्रकार मैं सर्वत्र हूं। और इसीलिये —]

(२०) तीनों विद्याओंके जाननेवाले[१], यज्ञमें सोमरस[२] पान करनेवाले निष्पाप मनुष्य यज्ञद्वारा पूजनकर स्वर्गप्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं और वे इंद्रके पुण्यलोक (अर्थात् स्वर्ग) में पहुंचकर उस दिव्यलोकमें देवताओंके दिव्य भोग भोगते हैं।

---

१. ऋक्, यजुः और साम इन वेदत्रयविहित यज्ञकर्म करनेवाले।

२. यज्ञशेष।

ते तं भुंक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभंते ॥२१॥
अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

(२१) वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर, पुण्य समाप्त होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्म[1]को प्राप्त हुए और नाना प्रकारकी इच्छाओंमें फंसे हुए ये लोग आवागमनको प्राप्त होते हैं।

[इस प्रकार नाना प्रकारके भोग भोगनेकी इच्छासे किये जानेवाले ईश्वरोपासनपूर्वक कर्मोंसे नाना प्रकारके भोग प्राप्त होते हैं, इसमें संदेह नहीं; पर यह सुख अनित्य है—अक्षय सुख नहीं। अक्षय सुख तो उसीको प्राप्त होता है जो सब प्रकारकी इच्छाएं त्याग दे और अक्षय पदकी ही इच्छा करे। परंतु इसपर यह प्रश्न होता है कि यदि कोई मनुष्य ऐसा विचार करे कि हम इस संसारमें रहते हुए किसी बातकी इच्छा न करेंगे, केवल लोक-संग्राहक कर्म ही करते रहेंगे—न वे धन कमानेकी इच्छा करेंगे, न अपने तनको सुख ही पहुंचाना चाहेंगे, तो उसकी, उसके कुटुंबियोंकी क्या गति होगी? इस व्यग्रताको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि—]

(२२) जो लोग अनन्य भावसे मेरा ध्यानकर मेरी उपासना करते हैं उन नित्य योगयुक्त उपासकोंका योगक्षेम मैं चलाता हूं।

१. वैदिक यज्ञयागादि

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

[भगवान ही उनका योगक्षेम चलाते हैं। यह अत्यंत गूढ़ रहस्य है, जिसको जानना अनुभवका ही काम है। द्रौपदीकी लाज रखनेवाले, भक्त प्रह्लादका संकट निवारण करनेवाले भगवान किस तरह अपने भक्तोंका योगक्षेम चलाते हैं, यह अनुभवके बिना नहीं जाना जा सकता। सर्वस्व ईश्वरके चरणारविंदमें अर्पण करके, उसीमें शांत, सुखी और संतुष्ट होकर केवल ईश्वरार्पणबुद्धिसे संसारमें कर्तव्य कर्म करनेवाले महापुरुषों और महात्माओंका समग्र जीवन ही इस महत्सिद्धान्तका अनुभव है। यह बड़ा ही दिव्य अनुभव है जिसमें आनन्दके सिवाय और कुछ है ही नहीं। सब इच्छाओंको छोड़कर, अक्षय पदकी प्राप्तिका लक्ष्य अपने सामने रखकर ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्त्तव्य कर्म करनेवाले पुरुषके सुख दुःखकी चिन्ता स्वयं ईश्वर करता है और उसका कभी अकल्याण नहीं होता। विपत्ति उसकी ईश्वरभक्तिकी परीक्षा करती है पर उसका कोई अहित नहीं होने देती। वह पुरुष स्वयं अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखके विचारके परे पहुंच जाता है और उसके प्रपंचका सारा भार प्रकृतिपरमेश्वर स्वयं वहन करता है। जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही उसको फल मिलता है। यहांतक कि—]

(२३) जो श्रद्धाके साथ अन्य देवताओंको भजते हैं वे भी विधिपूर्वक न सही पर मेरी ही उपासना करते हैं।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानंति तत्वेनातश्च्यवंति ते ॥२४॥
यांति देवव्रता देवान् पितृन्यांति पितृव्रताः ।
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

(२४) मैं ही सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूं। परंतु मुझे तत्वतः (ठीक ठीक) वे नहीं जानते इसलिये गिरते हैं (मृत्यु लोकमें)।

(२५) जो देवताओंके व्रती हैं वे देवताओंके पास, जो पितरोंके पूजक हैं वे पितरोंके पास, जो भूतोंके भक्त हैं वे भूतोंके पास और जो मेरे उपासक हैं वे मेरे पास आ जाते हैं।

(२६) जो कोई पत्र, फूल, फल, या जल भी भक्तिके साथ मुझे अर्पण करता है उस प्रयतात्माका वह भक्ति-उपहार मैं (प्रसन्नतासे) स्वीकार करता हूं।

(२७) हे कुंतिपुत्र ! जो कुछ तुम करो, भोगो, हवन करो, जो कुछ दान करो, तप करो वह सब मुझे अर्पण करो।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

(२८) इस प्रकार शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनोंसे तुम छूट जाओगे और संन्यासयोगसे युक्त और (सब बंधनोंसे) विमुक्त होकर मुझे प्राप्त करोगे।

(२९) मैं सर्वत्र सम हूं। मेरा न कोई अप्रिय है, न कोई प्रिय; जो भक्तिसे मुझे भजते हैं वे मेरे अंदर हैं और मैं उनके अंदर हूं।

(३०) बड़ा भारी दुराचारी भी क्यों न हो पर अनन्यभक्तिसे यदि वह मेरा भजन करे तो सन्मार्गवर्ती वह व्यक्ति साधुके ही समान सम्मान्य है।

(३१) वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा टिकनेवाली शांति प्राप्त करता है। हे अर्जुन! यह निश्चय समझो कि मेरे भक्तकी कभी दुर्गति नहीं होती।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम् ॥३२॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

(३२) हे पार्थ ! मेरी जो उपासना करते हैं वे पापयोनि भी क्यों न हों, तथा स्त्रियां, वैश्य और शूद्र भी परम गति लाभ करते हैं ।

(३३) फिर जो पुण्यात्मा ब्राह्मण और राजर्षि मेरे भक्त हैं उनकी बात ही क्या है ! इस अनित्य और सुखरहित संसारमें रहते हुए मेरा भजन करो ।

[३० वें श्लोकमें बतलाया कि कोई कैसा भी दुराचारी क्यों न हो, वह यदि अपने दुराचारको छोड़ सन्मार्ग पर आ जाय और अनन्य भावसे परमेश्वरकी भक्ति करे तो उसे साधु ही समझना चाहिये । ३२ वें श्लोकमें यह बतलाते हैं कि जो पाप-योनि हैं अर्थात् पापाचारमें रत जातियोंमें ही जिनका जन्म हुआ है जैसे चांडाल, श्वपचादि अथवा 'जरायमपेशा' लोग, वे भी यदि ईश्वरकी भक्ति करें तो उत्तम पद लाभ कर सकते हैं । इनके साथ ही स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रोंका भी नाम लिया है और कहा है कि इन्हें भी परमगति प्राप्त हो सकती है यदि ये भक्ति करें । इसपर यह प्रश्न होता हैं कि क्या स्त्रियां, वैश्य और शूद्र इतने गिरे हुए हैं जो पापयोनियोंके साथ उनका नाम लिया गया ? परंतु यह मतलब नहीं है । बात यह है कि स्त्रियां घर गृह-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम
नवमोऽध्यायः ॥९॥

स्थीके कामोंमें और तज्जन्य मोहमें ही फंसी रहती हैं, वैश्य धनोपार्जनमें ही लगे रहते हैं और शूद्रोंको भी ज्ञानप्राप्तिका कोई अवसर नहीं होता—इसलिये इन्हें सद्गति मिलनेका कोई सुलभ और निश्चित मार्ग होना चाहिये और इसीलिये पापाचार और पापयोनि मनुष्योंको आत्मोद्धारका जो उपाय बताया वही स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रोंके लिये भी बताया है। और फिर वही उपाय इस ३३ वें श्लोकमें ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके लिये बतलाते हैं। पापाचार और पापयोनिसे लेकर पुण्यात्मा ब्राह्मण, क्षत्रियों तक, सबके लिये एक ही राजमार्ग बता दिया है और अन्तमें इसी राजमार्गका यह मंत्र अर्जुनको बतलाते हैं—]

(३४) अपना मन मेरे मनको अर्पण कर दो, मेरे भक्त बनो, मेरा पूजन करो, मुझे नमन करो। इस प्रकार अपने आपको युक्त करके मुझको ही सर्वस्व मान लेनेसे तुम मुझे प्राप्त करोगे।

[यही मंत्र राजगुह्य है। यही अनन्य भक्ति राजविद्या है जिसे बतानेकी प्रतिज्ञा अध्यायके आरंभमें की गयी है। भक्ति अनेक प्रकारसे होती है— यज्ञ, तप, दान आदि भी भक्तिके ही प्रकार हैं और इनके द्वारा तत्तत्फलोंकी प्राप्ति होती है, क्योंकि सभी

स्थानों और कर्मों में भगवान अपनी योगमायाशक्तिसे विराज-मान रहते हैं। परतु सबको सब कर्मों और स्थानोंमें ईश्वरके दर्शन नहीं होते, क्योंकि लोग ईश्वरकी भक्ति नहीं, कर्मफलोंकी भक्ति करते हैं और इसलिये कर्मफलोंमें ही अटके रह जाते हैं। परंतु जो और सब फलोंको तुच्छ समझकर अनन्य भावसे ईश्व-रकी शरण लेता है, अपना सर्वस्व उसीके चरणोंमें अर्पणकर उसीको अपना सर्वस्व मान लेता है, वह फिर चाहे किसी जा-तिका पुरुष हो—उसके पूर्व कर्म चाहे कितने ही पापयुक्त हों और उसने चाहे ब्रह्मके विवेचक ग्रन्थोंका अध्ययन भी न किया हो—अपना ही कर्म करता हुआ यदि वह ईश्वरकी शरणमें पूर्ण रूपसे आ जाता है तो वह 'साधुके समान ही मान्य है' और उसको 'परमगति मिलती है'। उसके सुख दुःखकी चिन्ता-का भार स्वयं ईश्वर वहन करता है और वह सब कर्मबन्ध-नोंसे मुक्त होकर परमात्मपद लाभ करता है। इसलिये भग-वान उपदेश देते हैं कि मेरा ध्यान करते हुए संसारके सब कर्तव्य कर्म करो और उन सब कर्मोंको मुझे अर्पण कर दो। यही मुझे प्राप्त करनेका राजमार्ग है। यही ईश्वरप्राप्तिकी सुलभ राजविद्या है और यही 'प्रत्यक्ष जानने योग्य' राजगुह्य है।]

नवां अध्याय समाप्त

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

दसवां अध्याय

विभूतियोग

[पिछले अध्यायमें ईश्वरी योग या योगमायाका वर्णन करते हुए परमभक्तिका वह तत्त्व बतला दिया जिसको हृदयंगम करके कोई भी मनुष्य—चाहे वह कैसा ही संस्कारहीन और अज्ञानी हो—केवल इस एकमात्र संस्कारकी दृढ़तासे भवसागरके परे परमानन्द धाममें पहुंच जाता है। अब उसी संस्कारकी दृढ़ताके साधनस्वरूप संसारके भिन्न भिन्न पदार्थोंमें —मनुष्यको अपनी तरफ खींचनेवाली प्रत्येक शक्तिमें भगवानका दर्शन कराते हैं। जिस शक्तिसे कोई वस्तु मोहक अथवा आकर्षक या आनन्ददायक होती है वह शक्ति परमात्माकी ही शक्ति है इसलिये वह वस्तु परमात्माकी ही विभूति या व्यक्तरूप है। इसीलिये इस अध्यायका नाम "विभूतियोग" है

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवंति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

जिसमें परमात्माकी संसारमें प्रकाशमान विभूतियोंमें परमात्म-शक्तिका ध्यान कराया गया है ।]

(१) श्रीकृष्ण कहते हैं—हे दीर्घ भुजावाले अर्जुन ! मेरा परम वचन पुनः सुनो । तुम (मेरे भाषणसे) प्रीत हुए हो इस लिये तुम्हारे हितकी इच्छासे मैं कहता हूं ।

(२) मेरे जन्मको न देवता जानते हैं और न ऋषि ही ; क्योंकि देवताओं और महर्षियोंका सर्वथा मैं ही आदि कारण हूं ।

(३) जो मुझ अजन्मा, अनादि, सब लोकोंके ईश्वरको जानता है वही इस मृत्यु लोकमें मोहरहित होकर सब पापोंसे मुक्त होता है ।

(४-५) मनुष्योंकी बुद्धि, ज्ञान, विवेक, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता,

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सन्तोष, तप, दान, कीर्त्ति, अकीर्त्ति इत्यादि जो नाना विध भाव हैं, वे मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं।

(६) सातों[1] महर्षि, उनसे पहलेके चार[2] प्राचीन महर्षि और सब मनु[3] जो मेरा ध्यान करते हैं मेरे ही मनसे उत्पन्न हुए हैं और उन्हींकी सन्तति वर्तमान प्रजा है।

१—उक्त सात महर्षि अर्थात् भृगु, मरीचि, अंगिरस अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ अमैथुनी सृष्टिसे उत्पन्न हुए मानसपुत्र कहे जाते हैं। २—इनसे पहले सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ब्रह्माकी इच्छामात्रसे पैदा हुए। इन्हींको चार कुमार कहते हैं। इसपर लोकमान्य गीतारहस्यकारका यह कहना है कि वे चारों ऋषि यद्यपि ब्रह्मदेवके मानसपुत्र थे तथापि ये सब जन्मतः संन्यासी थे, इन्होंने प्रजावृद्धि नहीं की इससे ब्रह्मदेव इनपर नाराज भी थे। और इस श्लोकमें तो "येषां लोक इमाः प्रजाः" "जिनसे इस लोकमें यह प्रजा उत्पन्न हुई" ऐसा लिखा है; अर्थात वे चार ऋषि और कोई होंगे। गीतारहस्यकारने महाभारतके आधारपर यह लिखा है कि मरीच्यादि सात ऋषियोंके पूर्व जो मूर्तियां उत्पन्न हुईं और जिनसे फिर मरीच्यादि पुत्र निर्माण हुए वे चार मूर्तियां ये थीं—(१) वासुदेव (आत्मा), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार! अनिरुद्ध अर्थात् ब्रह्मदेवसे आगे मरीच्यादि पुत्र निर्माण हुए।

३—सब मिलाकर १४ मन्वंतर होते हैं। हर मन्वंतरका एक मनु होता है। इन चौदह मनुओंके सात सातके दो वर्ग हैं। पहले सातके नाम स्वायंभुव, स्वारोचिष, औत्तमी, तामस, रैवत, चाक्षुष, और वैवस्वत। इन्हें स्वायंभुवादि मनु कहते हैं। आजकल सातवां मन्वंतर चल रहा है जिसे वैवस्वत मन्वंतर कहते हैं। इसके बाद जो सात मनु आवेंगे उनके नाम—सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि—इन्हें सावर्णि मनु कहते हैं। इस श्लोकमें स्वायंभुवादि सात मनुओंसे ही मतलब है। (गीतारहस्य)

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम् ।
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च ॥९॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥१०॥

(७) मेरी इस विभूति (विस्तार) और योगको जो ठीक ठीक जानता है वह दृढ़ताके साथ योगमें लग जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

(८) मैं सबका उत्पत्तिस्थान हूं, मुझसे ही सब कुछ उत्पन्न होता है ; यह जानकर पण्डित लोग भावभक्तिके साथ मेरा भजन करते हैं ।

(९) और मनको मेरी तरफ लगा अपने प्राणोंको मुझे समर्पितकर, परस्परको शिक्षा देते और मेरा कीर्तन करते हुए सदा सुख और संतोषसे रहते हैं ।

(१०) ऐसे नित्य युक्त रहनेवाले और प्रीतिके साथ मेरा भजन करनेवालोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूं जिससे वे मेरे पास आ जाते हैं ।

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

(११) और उन्हींपर अनुग्रह करनेके लिये उनके हृदयमें रहते हुए मैं उनपर पड़े हुए अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले अन्धकारको ज्ञानरूपी चमकते हुए दीपकसे नष्ट कर देता हूं।

(१२-१३) अर्जुनने कहा—आप ही परब्रह्म हो, आप ही परंधाम हो, आप ही सबसे पवित्र हो, आप ही चिरकाल रहनेवाले दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हो। ऋषि[1], देवर्षि[2], नारद[3], असित[4], देवल[5], व्यास[6] सब आपको ऐसा कहते हैं और आप स्वयं भी ऐसा कहते हैं।

---

१ ऋषि—प्रत्येक मन्वंतरके ऋषि भृगु वसिष्ठादि। २- देवर्षि—सब ऋषियोंको देवर्षि कहते हैं, पर विशेष रूपसे नारद ही देवर्षि कहे जाते हैं। सृष्टिके आरम्भके सप्तर्षियोंको देवर्षि कहा है पर नारदकी गणना उन ऋषियोंमें नहीं होती। ३-नारद—देवर्षि, तीनों लोकमें भ्रमण करने और भजन गाते ईश्वर भक्तिका प्रचार करनेवाले महात्मा। ४-असित—ऋषि विशेष। ५-देवल—असित मुनिके पुत्र जो बड़े भारी शास्त्रवक्ता हुए। देवलस्मृति प्रसिद्ध है। ६—व्यास—पराशर पिता और सत्यवती माताके परमज्ञानी पुत्र महाभारतकार श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यास जिन्हें पञ्चकलापूर्ण ईश्वरावतार कहते हैं। इन्होंनेही वेदोंका विषयविभागपूर्वक संग्रह किया और वेदान्त शास्त्र 'ब्रह्मसूत्र'की रचना की।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
नहि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

(१४) हे केशव! आप जो कुछ कहते हो वह सब मैं सच मानता हूं। भगवन्! आपकी व्यक्ति (स्वरूप) देव या दैत्य कोई नहीं जानता।

(१५) हे भूतोंके उत्पन्न करनेवाले! हे पृथ्वीपति! हे देवोंके देव! हे संसारस्वामिन्। हे पुरुषोत्तम! आप ही अपने आपको जानते हो।

(१६) अपनी दिव्य विभूतियां (कृपाकर) विस्तारके साथ बताइये जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन लोकोंमें व्याप्त रहते हैं।

(१७) हे योगिन्! आपका सदा चिन्तन करता हुआ आपको मैं कैसे जान सकता हूं? हे भगवन्! किन किन भावोंमें आपका ध्यान किया जा सकता है?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥१९॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥२०॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

(१८) हे जनार्दन ! अपना योग और विभूति विस्तारके साथ फिर सुनाइये ; क्योंकि (इन) अमृत (वचनों) को सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती ।

(१९) श्रीकृष्ण कहते हैं—अच्छा तो अब मैं अपनी प्रधान प्रधान दिव्य विभूतियां तुमसे कहता हूं। (यों तो) हे कुरुश्रेष्ठ ! मेरे विस्तारका कोई अन्त नहीं है ।

(२०) हे गुड़ाकेश (निद्राको जीतनेवाले अर्जुन !) मैं सब चर-अचर प्राणियोंके अन्दर रहनेवाला आत्मा हूं। मैं सृष्टिका आदि, मध्य और अन्त हूं ।

(२१) आदित्योंमें मैं विष्णु[१] हूं ; तेजस्वी पदार्थोंमें मैं

[१]—जिस सूर्यको हम आप देख रहे हैं, समस्त विश्व ब्रह्मांडमें ऐसे १२ सूर्य हैं जिनके नाम—मित्र, रवि, सूर्य, भानु, खग, पूषण, हिरण्यगर्भ, मरीचि, आदित्य, सविता, अर्क और भास्कर हैं ; अथवा ये नाम इसी सूर्यके १२ गुणोंके नाम होंगे

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

किरणमाली सूर्य हूं; मरुतों[1] (हवाओं) में मरीचि हूं और तारामण्डलमें मैं चन्द्र हूं।

(२२) वेदोंमें मैं सामवेद[2], देवोंमें इन्द्र[3], इन्द्रियोंमें मन[4] और प्राणियोंमें मैं चेतनशक्ति[5] हूं।

(२३) रुद्रोंमें मैं शंकर[6], यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर[7],

जिनमें पूषण अर्थात् पोषण करनेवाले आदित्यको यहां विष्णु कहा है, क्योंकि ब्रह्मा-विष्णु महेशमें पोषण करना विष्णुका ही धर्म है और इसीलिये आदित्योंमें विष्णु श्रेष्ठ हैं।

१—समस्त विश्वब्रह्मांडव्यापी वायु ७ भागोंमें विभक्त मानी गयी है। वे सात भाग ये हैं—आवह, प्रवह, विवह, परावह, उद्वह, संवह, और परिवह। इन सातों विभागोंमेंसे फिर प्रत्येकके सात सात विभाग कल्पित किये गये हैं।

२—यहां वेदोंमें सामवेदको इसलिये श्रेष्ठ बताया है कि सामगायन ईश्वरके गुणोंका सर्वोत्तम गायन है। और गायनको श्रेष्ठत्व देनेका कारण यह है कि यहां सर्वश्रेष्ठ ऋग्वेदका ज्ञान नहीं प्रत्युत ईश्वरकी उन भिन्न भिन्न विभूतियोंका वर्णन किया जा रहा है जो मनुष्यके मनको आकर्षण करती हैं।

३—स्वर्गलोकमें देवताओंका वास है और वहां इन्द्र ही राजा है।

४—सब इन्द्रियोंको चलानेवाला मन ही तो है।

५—चेतनशक्ति अर्थात् प्राणोंकी व्यापारशक्ति।

६—रुद्र ११ हैं-वीरभद्र, शंभु (शंकर), गिरीश, एकपाद, अहि, बुधन्य, पिनाकी, भवानीश, कपाली, दिग्पति, स्थाणु; इनमें शंकर ही सबको प्रिय है, क्योंकि शम् अर्थात् कल्याणके सिवाय और किसकी क्या इच्छा हो सकती है?

७—धनरक्षक शक्तियोंको यक्ष और परापहारमहत्त शक्तियोंको राक्षस कहते हैं और इनका शासन कुबेर करते हैं जो देवराजके कोषाध्यक्ष हैं।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

वसुओंमें अग्नि[१], पर्वतोंमें मैं मेरु हूं[२]।

(२४) कुलपुरोहितोंमें मैं प्रधान पुरोहित बृहस्पति[३] हूं; सेनापतियोंमें मैं स्कन्द[४] हूं और जलाशयोंमें मैं समुद्र हूं।

(२५) महर्षियोंमें मैं भृगु[५] हूं; वाणियों[६]में मैं एक अक्षर ॐ हूं, यज्ञों[७]में मैं जपयज्ञ हूं और अचल पदार्थोंमें मैं हिमालय हूं।

१—वसु ८ हैं—धर, ध्रुव, सोम, सावित्र, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास।

२—मेरु पर्वत सबसे ऊंचा है। इसलिये अथवा सबसे ऊंचा जो पर्वत है वह सबसे ऊंचा है इसलिये उसका नाम मेरु है।

३—बृहस्पति देवराज इन्द्रके पुरोहित, परम ज्ञानी मन्त्री।

४—स्कन्द अर्थात शिवपुत्र कार्तिकेय स्वामी जिन्होंने जन्मते ही कामको जीता और त्रिभुवनविजयी सेनापति हुए।

५—सप्तर्षियोंमें सबसे पहले भृगुका नाम आता है और ये अत्यन्त तेजस्वी तपस्वी थे जिनके प्रतापकी महिमा पुराणोंने बखान की है।

६—वाणीका आरंभ ही अ-उ-म्—ओम्से होता है और इसीको शब्दब्रह्म कहते हैं। वाणीके द्वारा सबसे श्रेष्ठ उपासना ॐ का उच्चारण है।

७—श्रौत स्मार्त आदि अनेक प्रकारके यज्ञ हैं, पर एकान्त स्थानमें अनन्य भावसे ईश्वरकी भावना विशेषका जप करना ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

(२६) सारे वृक्षोंमें अश्वत्थ[१], देवर्षियोंमें नारद[२], गन्धर्वोंमें चित्ररथ[३], सिद्धोंमें[४] मैं कपिल[४] मुनि हूं ।

(२७) घोड़ोंमें मैं उच्चैश्रवा[५] हूं जो अमृतसे (अमृत मंथनके समय) उत्पन्न हुआ; बड़े बड़े हाथियोंमें मैं ऐरावत[५] हूं; और मनुष्योंमें राजा हूं ।

---

१ अश्वत्थ अर्थात् पीपल । यह वृक्ष अपने यहां अत्यन्त पवित्र माना गया है । घरमें यदि किसी सन्धिस्थलसे इसका पौधा निकल पड़े अथवा घरके बीचमें यदि कोई ऐसा वृक्ष हो जिससे घरकी नींव भी नष्ट होनेका भय हो तौभी कोई उसे काटनेका साहस नहीं करता । इस वृक्षमें देवताओंका वास माना जाता है और इसके संस्कृतमें अच्युतावास, पवित्रक, चैत्य, सत्य आदि नाम हैं । वैद्यकशास्त्रमें भी इसके 'कफपित्त विनाश' 'रक्तदाहशमन' आदि अनेक गुण बताये गये हैं । ऐसा विश्वास है कि इसकी वायुसे मनुष्यकी आयु बढ़ती है ।

२ देवर्षियोंमें नारद मुनि ही ऐसे हैं जो तीनों लोकोंमें भ्रमण करके सबको आत्मोद्धारका मार्ग बताते हैं ।

३ गन्धर्व अर्थात् देवसभाके गवैयोंमें चित्ररथ सबसे श्रेष्ठ हैं ।

४ सिद्ध-पुरुषोंमें अर्थात् जिन्हें ज्ञान सिद्ध हुआ उनमें कपिल श्रेष्ठ हैं; क्योंकि कपिलने ही वह सांख्यशास्त्र निर्माण किया जिसके आधारपर ही अन्य अध्यात्मशास्त्र बने ।

५ अमृतके लिये देवताओंने जब समुद्र मंथन किया तब उसमेंसे १४ रत्न निकले जिनमेंसे उच्चैश्रवा नामका अश्व और ऐरावत नामका हाथी ये दो हैं ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

(२८) शस्त्रास्त्रोंमें मैं वज्र[१] हूं; गौओंमें मैं कामधेनु[२] हूं; सन्तति उत्पन्न करनेवाला मैं काम हूं; सांपोंमें मैं (सांपनाथ) वासुकी हूं।

(२९) नागोंमें[३] मैं (नागनाथ) अनन्त हूं; जलचरोंमें मैं वरुण[४] हूं; पितरोंमें मैं अर्यमा[५] हूं; संयम करनेवालोंमें मैं यम[६] हूं।

१ इन्द्रका वज्र जो दधीचि मुनिकी हड्डीसे बना था।

२ कामधेनु अर्थात् देवताओंकी गौ समुद्रमंथनके समय हो उत्पन्न हुई।

३ श्रीधरी टीकामें सांपका अर्थ जहरीला सांप और नागका अर्थ जहरबिना सांप किया है। परंतु गीतारहस्यकारके कथनानुसार महाभारतके आस्तीक उपाख्यानमें ये शब्द समानार्थक हैं।

४ जलके अधिष्ठाता देवता पश्चिम दिग्पतिका नाम वरुण है।

५ पितृलोकके अधिपति।

६ धर्माधर्मका नियमपूर्वक फल देनेवाली शक्तिका नाम यम है। अष्टांगयोगमें भी यम इसलिये श्रेष्ठ माना जा सकता है कि यम जिसने भली भांति साध लिया उसके लिये आगेका सोपान सुगम है।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

(३०) दैत्योंमें प्रह्लाद[१]; गणना करनेवालोंमें काल[२]; मृगोंमें मृगेंद्र और पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूं।

(३१) पावन (पवित्र) करनेवालोंमें (पवन) वायु हूं; शस्त्रधारियोंमें राम; मछलियोंमें मगर और नदियोंमें मैं गङ्गा हूं।

(३२) सारी सृष्टियोंका मैं आदि, अन्त और मध्य हूं, विद्याओंमें मैं अध्यात्मविद्या और वादविवादमें मैं वाद[३] हूं।

---

१ दैत्य भी ईश्वरसे भिन्न नहीं हैं और उनमें भी परम भक्त प्रह्लाद ईश्वरकी विभूति रूपसे दर्शन देते हैं।

२ कालसे ही सारी गणना होती है।

३ वाद, जल्प और वितंडा—वादके ये तीन भेद हैं। वितंडा वाद वह है जिसमें कुछ निर्णय हो न हो; जल्प वह है जिसमें वादी अपनी ही कहे जाता है, प्रतिवादीकी बातको सोचता ही नहीं; और वाद वह है जो तत्व निर्णयके लिये किया जाता है। इसलिये यही श्रेष्ठ है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥३३॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

(३३) अक्षरोंमें मैं अकार, समासोंमें मैं द्वंद्व[1] समास, मैं ही अनन्त काल और मैं ही सर्वतोमुख विधाता[2] हूं।

(३४) मैं ही सबको हरनेवाला मृत्यु हूं; होनहारका मैं ही बीज हूं; स्त्रियोंमें मैं कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, बुद्धि और क्षमा हूं।

(३५) सामवेदमें मैं बृहत्साम[4] हूं; छन्दों[5]में मैं गायत्री[5]

---

१ द्वंद्व समासमें यह विशेषता है कि दोनों पदोंकी बराबरी होती है। इसमें समता है जो औरोंमें नहीं।

२ सर्वतोमुख विधाता यानी जिनके मुख सब दिशाओंमें हैं।

३ कीर्ति, शोभा आदि शब्द स्त्रीलिंगके हैं इसलिये ये भाव स्त्रियोंमें शामिल हैं। पराक्रमी पुरुषकी ये शोभा हैं।

४ सामवेदका मंत्रविशेष जिसमें इन्द्रकी सर्वेश्वररूपसे स्तुति की गयी है।

५ सब वेद छन्दोबद्ध हैं इसलिये वे छन्द भी कहलाते हैं। वेदोंमें गायत्री श्रेष्ठ है, क्योंकि गायत्री मंत्रमें वेदोंका सार आ गया है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोस्मि सत्वं सत्ववतामहम् ॥३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥
दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

हूं, महीनोंमें मैं मार्गशीर्ष[1] का महीना हूं; और ऋतुओंमें मैं वसन्त ऋतु[2] हूं।

(३६) धोखेबाजियोंमें मैं जुआ हूं; तेजस्वियोंमें मैं तेज हूं, मैं जय हूं; मैं निश्चय हूं; और सत्वशीलोंमें सत्व हूं।

(३७) यदुवंशमें मैं वासुदेव हूं; पांडवोंमें मैं धनंजय (अर्जुन) हूं; मुनियोंमें व्यास हूं; और कवियोंमें मैं उशना (शुक्राचार्य) कवि हूं।

(३८) (दुष्टोंका) दमन करनेवालोंका दंड मैं हूं; जयकी

१ प्राचीन टीकाकार मार्गशीर्षको इसलिये श्रेष्ठ बतलाते हैं कि यह मास सम-शीतोष्ण रहनेसे सुखदायी होता है। अर्वाचीन टीकाकारोंका यह कहना है कि किसी समय महीनोंकी गिनती मार्गशीर्ष माससे की जाती थी, और महाभारतमें एकाध स्थानको छोड़कर सर्वत्र मार्गशीर्ष माससे ही महीनोंके नाम गिनाये गये हैं। मार्ग-शीर्ष मासको अग्रहायण (हायन=वर्ष, अग्र=पहले अर्थात् वर्षारंभ) कहते भी हैं।

२ ऋतुओंमें वसंत ऋतु श्रेष्ठ है, ही और ऋतुगणनामें सबसे पहले यही ऋतु आती है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः १०

इच्छा करनेवालोंके लिये मैं नीति हूं, गुप्त वस्तुओंमें मैं मौन और ज्ञानियोंमें मैं ज्ञान हूं।

(३९) हे अर्जुन! सब भूतोंका जो बीज है वह मैं हूं। मेरे बिना संसारमें कोई चर अचर वस्तु नहीं है।

(४०) हे परंतप! मेरी दैवी विभूतियोंका अन्त नहीं है। यह विस्तार दिग्दर्शन मात्रके लिये किया है।

(४१) जो जो वस्तु वैभवशाली, श्रीसंपन्न और बलयुक्त हो, यह समझो कि वह मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुई है।

(४२) अथवा हे अर्जुन! इन बहुतसी विभूतियोंको जानकर तुम क्या करोगे? (यह समझो कि) यह सारा संसार मैंने अपने एक अंशमात्रसे व्याप्त किया है।

[यों तो सर्वत्र ही परमात्मा है, पर शक्ति रूपसे वह किस प्रकार प्रत्येक वस्तुमें वर्तमान है यह दिखलानेके लिये इन विभूतियोंका वर्णन किया है। यह वर्णन भी अत्यन्त संक्षिप्त है—केवल विशेष विशेष विभूतियोंका वर्णन किया है और अन्तमें यह बतलाया है कि यह सारा संसार मेरी ही विभूति है; पर यह विभूति ही सब कुछ नहीं है—यह ईश्वरशक्तिके एक अंशमात्रका व्यक्त रूप है। इन विभूतियोंका वर्णन करनेमें भगवानने दैवी विभूतियोंके साथ द्यूत आदिको भी अपनी ही विभूति बताया है, क्योंकि सत और असत सभी परमात्माका ही रूप है कुछ धर्म संप्रदाय ईश्वरको असतसे भिन्न मानकर असतके लिये शैतानकी कल्पना करते हैं और शैतानको एक स्वतंत्र शक्ति मानते हैं पर गीता यह बतलाती है कि शैतान भी ईश्वरकी ही माया है। मतलब यह है कि कोई स्थान ऐसा नहीं है जहां ब्रह्मका अवस्थान न हो।]

दसवां अध्याय समाप्त

एकादशोऽध्यायः

—:x:—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

ग्यारहवां अध्याय

विश्वरूप दर्शनयोग

[दसवें अध्यायमें जिस विश्वात्माका दर्शन भिन्न भिन्न विभूतियोंमें पृथक् पृथक् कराया है उसी विश्वात्माका अखिल विश्व ब्रह्माण्डके रूपमें एक साथ दर्शन करानेके लिये इस "विश्व-रूप दर्शन योग" नामक ग्यारहवें अध्यायकी सृष्टि है।]

(१) अर्जुनने कहा—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने अध्यात्म (ब्रह्मका भाव) नामसे जो परम गुह्य वचन सुनाया उससे मेरा मोह दूर हो गया है।

(२) हे कमलनयन! मैंने आपसे प्राणियोंकी उत्पत्ति और नाशका हाल विस्तारके साथ सुना और (आपका) अक्षय माहात्म्य भी श्रवण किया।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

(३) हे परमेश्वर! आपने जैसा अपना वर्णन किया है उस ईश्वरीय रूपको हे पुरुषोत्तम! मैं देखना चाहता हूं।

(४) मेरे लिये आप संभव समझें तो, हे योगेश्वर! मुझे आप उस अव्यय रूपके दर्शन कराइये।

(५) श्रीकृष्ण कहते हैं—हे पार्थ! अच्छा तो मेरे सैकड़ों सहस्रों रूपोंको देखो जो नाना प्रकारके, नाना आकृतियों और रंगोंके दिव्यरूप हैं।

(६) इन आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों और मरुद्गणोंको देखो। हे भारत! उन आश्चर्यसे भरी वस्तुओंको देखो जिन्हें पहले कभी न देखा था।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगंधानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥११॥

(७) हे गुडाकेश! आज यहां सारा चर अचर संसार तथा और जो कुछ तुम देखना चाहते हो वह सब मेरे शरीरके अंदर एकत्र देख लो।

(८) अपनी इन आंखोंसे तुम न देख सकोगे, इसलिये तुम्हें मैं दिव्य नेत्र देता हूं। इन दिव्य नेत्रोंसे मेरा ईश्वरी योग देखो।

(९) संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—हे राजन्! इस प्रकार कह-कर तब महायोगेश्वर श्रीकृष्णने अपना परम ईश्वरीरूप अर्जुनको दिखाया।

(१०-११) (वह रूप कैसा है जिसमें) अनेकों मुख और नेत्र हैं, अनेक अद्भुत दृश्य (दिखायी दे रहे) हैं, अनेक सुन्दर अलं-

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥१३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

कार धारण किये हैं, अनेक दिव्य शस्त्र लपलपा रहे हैं। कितनी हो दिव्य मालाएं (गलेमें पड़ी हुई) हैं ! कैसा दिव्य वस्त्र धारण किया है और क्या ही दिव्य सुगंधी लेप शरीरमें लगा हुआ है। रूप क्या है, आश्चर्य है और इस दिव्य रूपका कोई अन्त नहीं है। चारों दिशाओंमें इसके मुख हैं।

(१२) आकाशमें यदि सहस्र सूर्यों की प्रभा एक ही साथ प्रकट हो तो वह उस महात्माके प्रकाशके सदृश दिखायी दे।

(१३) देवाधिदेवके शरीरमें अर्जुनने अनेक भागोंमें विभक्त सारे भूमंडलको एकत्र देखा।

(१४) तब धनंजय (अर्जुन) के आश्चर्यका पारावार न रहा; उसके रोंगटे खड़े हो गये और सिर झुकाकर हाथ जोड़ उसने भगवानसे कहा—

(१५) भगवन्! आपकी देहमें मैं सारे देवताओंको, सारे चर

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम्
नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥
अनादिमध्यांतमनंतवीर्यमनंतबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपंतम् ॥१९॥

अचर प्राणियोंके समूहोंको, कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्मदेवको, सारे ऋषियों और नागोंको देख रहा हूं।

(१६) अनेक बाहु, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्रां-वाले अनन्त रूपी आपको ही मैं सर्वत्र देख रहा हूं। हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! आपके अन्त, मध्य और आदिका पता नहीं लगता।

(१७) सिरपर किरीट दिये हुए, हाथमें गदा और चक्र लिये हुए, सब ओरसे प्रकाशित होनेवाले, तेजसमूह, सूर्य और अग्नि-के समान दीप्तिमान, अप्रमेयस्वरूप, नेत्रोंसे देखना भी कठिन है ऐसे आपको ही मैं सर्वत्र देख रहा हूं।

(१८) आप ही परम ज्ञेय अक्षर (ब्रह्म) हैं; आप ही इस विश्वके परम निधान हैं, आप अव्यय और शाश्वत धर्मके रक्षक हैं, आपही सनातन पुरुष हैं, ऐसा मैं समझता हूं।

(१९) जिसका आदि, अन्त और मध्य नहीं है, जो अनन्त

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणंति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

शक्तिशाली है; जिसकी अनन्त भुजाएं हैं, सूर्य और चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं; धधकती हुई आग जिसका मुख है; जो अपने तेजसे इस भूमंडलको तपा रहा है; ऐसे आपको मैं देख रहा हूं।

(२०) पृथिवी और आकाशके बीचका अंतर आपसे ही भर गया है और सारी दिशाओंमें आप ही आप हो। हे महात्मन्! आपका यह अद्भुत और उग्र रूप देखकर तीनों लोक कांप रहे हैं।

(२१) ये देवताओंके समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं; पर कई मारे डरके जहांके तहां खड़े हाथ जोड़ आपके गुण गा रहे हैं; और महर्षि और सिद्ध लोग "स्वस्ति स्वस्ति" कहते हुए बहुत प्रकारसे आपकी स्तुति कर रहे हैं।

(२२) रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत, ऊष्मपा (पितर) और गन्धर्व, यक्ष, दैत्य, सिद्ध लोग— सभी आश्चर्यसे आपकी तरफ देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा धृतिं न विंदामि शमंच विष्णो।
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥२५॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणःसूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥२६॥

(२३) हे महाबाहो! आपके अनेक मुखों, अनेक नेत्रों, अनेक भुजाओं और जांघों, अनेक पैरों, अनेक पेटों और अनेक दाढ़ों-वाले इस भीषण और महान् रूपको देखकर सब लोग घबरा उठे हैं और मेरा भी यही हाल है।

(२४) पृथिवीसे आकाशतक फैले हुए, तेजस्वी, नाना वर्ण-रंजित, मुंह फैलाये हुए और बड़े बड़े चमकते हुए नेत्रोंवाले आपके रूपको देखकर मन व्याकुल होनेसे, हे विष्णो! धैर्य और शांति जाती रही।

(२५) (भयंकर) दाढ़ोंके कारण विकराल बने हुए और प्रलय-कालकी अग्निके समान आपके मुखोंको देखकर मेरा दिशाज्ञान भी जाता रहा, मुझे कुछ नहीं सूझता। हे देवोंके देव! जगन्निवास! प्रसन्न हो।

(२६-२७) यह देखो, धृतराष्ट्रके पुत्र अनेक राजाओंके साथ

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु संदृश्यंते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥२७॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवंति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशंति वक्त्राण्यभिविज्वलंति॥२८॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशंति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशंति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समंताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥३०॥

तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारी तरफके भी बड़े बड़े योद्धाओंके साथ बड़ी तीव्र गतिसे आपके विकराल दाढ़ोंवाले भयंकर मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं; और कुछ लोग आपके दांतोंमें फंसे सिर चकनाचूर हुए दिखायी दे रहे हैं ।

(२८) जिस प्रकार नदियोंकी भिन्न भिन्न धाराएं समुद्रकी ओर ही प्रवाहित होती हैं उसी प्रकार नरलोकके ये वीर आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ।

(२९) जिस प्रकार मरनेके लिये जलती हुई आगमें पतिंगे तेजीके साथ कूद पड़ते हैं उसी प्रकार ये लोग मरनेके लिये बड़े वेगसे आपके मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ।

(३०) हे विष्णो ! अपने जलते हुए मुखोंसे आप सब तरफसे सब लोकोंको ग्रास करते हुए जीभ चाट रहे हो, आपके तेजसे सारा जगत भर गया है और आपकी उग्र प्रभाएं उसे तपा रही हैं ।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद !
विज्ञातुमिच्छामि भवंतमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥३१॥

श्री भगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यंति सर्वे येऽवस्थिताःप्रत्यनीकेषु योधाः ३२

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

(३१) ऐसा उग्र रूप धारण करनेवाले आप कौन हैं मुझे बताइये। हे देवश्रेष्ठ ! आपको मैं नमस्कार करता हूं। मुझपर प्रसन्न होइये। आप आदि पुरुष कौन हैं, यह म विशेष रूपसे जानना चाहता हूं। यह आप क्या कर रहे हैं कुछ समझमें नहीं आता।

(३२) श्रीकृष्ण कहते हैं—लोकक्षय करनेवाला मैं महान् काल हूं; यहां मैं संसारका संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूं ! तुम्हारे बिना भी शत्रुसेनामें उपस्थित सब योद्धा मारे जायंगे।

(३३) इसलिये तुम उठो, यश लाभ करो और शत्रुओंको जीतकर समृद्ध राज्य भोगो। मैं इन सबको पहले ही मार चुका हूं। हे सव्यसाचिन्[1] ! तुम निमित्तमात्र बनो।

[1] जो बांए हाथसे भी बाण चला सके उसे सव्यसाची कहते हैं।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ३५

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः।३६

(३४) द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य वीर योद्धाओंको भी मारो जिन्हें मैं पहले ही मार चुका हूं। घबराओ मत, युद्ध करो, रणमें शत्रुओंको तुम जीतनेवाले हो।

(३५) संजयने कहा—केशवका यह वचन सुनकर किरीट धारण किये हुए अर्जुनने, जिसका गला इस समय भर आया था, कांपते हुए, हाथ जोड़, नतमस्तक होकर, नमस्कार कर श्रीकृष्णसे फिर इस तरह कहा—

(३६) हे हृषीकेश! आपका कीर्तन करके संसार प्रसन्न और अनुरक्त होता है। राक्षस लोग मारे डरके चारों ओर भागते हैं। सब सिद्धोंके समुदाय आपको नमस्कार करते हैं। यह उचित ही है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनंत देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनंतरूप ॥३८॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ३९
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ४०

(३७) और भला वे नमस्कार क्यों न करें, (जब) आप ब्रह्माके भी आदिकारण और उससे भी श्रेष्ठ हैं। हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! आप ही सत् और असत् हैं और इनके परे जो अक्षर है वह भी आप ही हैं। (अर्थात् आपही जीव, जगत और इन दोनोंके कारणरूप परमात्मा हैं।)

(३८ आप आदिदेव, पुराण पुरुष हैं; आप ही इस संसारके आधार हैं; आप ही ज्ञाता और आप ही ज्ञेय हैं; आप ही परंधाम हैं; और हे अनन्त रूप! यह सारा विश्व आपहीसे भरा हुआ है।

(३९) आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति (ब्रह्मा) और प्रपितामह (ब्रह्माके पिता) हो। आपको सहस्र बार नमस्कार हैं। और फिर बार बार नमस्कार हैं।

(४०) आपको-सामनेसे, पीछसे, तथा हे सर्वात्मक! सब

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकःकुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ४४

तरफसे नमस्कार है। आप अनंतवीर्य्य और अनन्तशक्ति हैं। आप सर्वत्र समाये हुए हैं, इसलिये आप ही सर्व हैं।

(४१-४२) आपको सखा जानकर और आपकी महिमा न जाननेसे, प्यारसे या भूलसे मैंने आपको, हे कृष्ण! हे यादव! अथवा हे मित्र! आदि अवज्ञाकारक शब्द कहे हों; और उसी प्रकार हे अच्युत! कभी चलते फिरते, सोते बैठते या खाते पीते अकेलेमें या समक्ष (चार आदमियोंके बीचमें) मैंने किसी तरहकी हंसी दिल्लगीमें आपका असम्मान किया हो तो उसके लिये आप अप्रमेय (स्वतः सिद्ध) से मैं क्षमा मांगता हूं।

(४३) इस चर अचर संसारके आप पिता हैं, पूज्य हैं और गुरुसे श्रेष्ठ हैं, तीनों लोकमें आपके समान कोई नहीं है। फिर हे अप्रतिमप्रभाव! आपसे अधिक कोई कहांसे होगा?

(४४) इसलिये मैं आपको सिर नवाकर प्रणाम करके सबके

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

पूज्य आपको प्रसन्न करना चाहता हूं। पिता जैसे पुत्रकी, मित्र अपने मित्रकी अथवा प्रेमी अपने प्रेमपात्रकी सब बातें सह लेते हैं वैसे ही आप मुझे क्षमा करो।

(४५) कभी न देखा हुआ (यह विश्वरूप) देखकर मुझे बहुत आनंद हुआ पर मारे डरके मेरा मन बेचैन हो रहा है; इसलिये अब वही देवरूप दिखाइये। हे देवोंके देव! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइये।

(४६) हे विश्वमूर्ते! (सिरपर) किरीट (एक हाथमें) गदा और (दूसरेमें) चक्र धारण किया है उसी रूपमें आपको मैं देखना चाहता हूं। हे सहस्रबाहो! उसी चतुर्भुज रूपसे प्रकट होइये।

(४७) श्रीकृष्ण कहते हैं—मैंने प्रसन्न होकर अपनी योगसामर्थ्यसे तुम्हें यह तेजोमय, अनंत, आद्य और परम विश्वरूप दिखाया जिसे तुम्हें छोड़ और किसीने पहले नहीं देखा था।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

(४८) वेदपाठ, यज्ञ, अध्ययन, दान, कर्म, अथवा उग्र तपसे इस नरलोकमें यह रूप, हे कुरुप्रवीर, तुम्हें छोड़ और किसीके लिये देखना संभव नहीं है।

(४९) मेरा यह भयंकर रूप देखकर अपना चित्त व्यथित मत होने दो और घबराओ मत। भय छोड़कर प्रीतमनसे फिर मेरा वही रूप देखो।

(५०) संजय कहते हैं—ऐसा कहकर वासुदेवने अर्जुनको फिर अपना रूप दिखाया और उस महात्माने फिर सौम्यरूप धारणकर भयभीत हुए अर्जुनको दिलासा दिया।

(५१) अर्जुनने कहा—हे जनार्दन! यह आपका सौम्य मानवरूप देखकर अब मेरा चित्त ठिकाने आ गया है और मैं स्वस्थ हुआ हूं।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु० विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

(५२) श्रीकृष्णने कहा—मेरा यह रूप जो तुमने देखा है, कोई जल्दी नहीं देख पाता। देवता लोग भी इसे देखनेके लिये सदा तरसते रहते हैं।

(५३) वेदसे, तपसे, दानसे अथवा यज्ञसे मेरा इस तरह दिखायी देना संभव नहीं है जिस तरह तुमने मुझे देखा है।

(५४) केवल अनन्य भक्तिसे ही हे अर्जुन! मैं जाना जा सकता हूं, दिखायी दे सकता हूं और हे परंतप! कोई भी तत्वतः मेरे अन्दर प्रवेश कर सकता है।

(५५) मेरे लिये ही जो कर्म करता है, जिसका परम उद्देश्य ही मैं हूं; जो मेरी ही भक्ति करता है; जो संगरहित है और

किसी प्राणीसे जो वैर नहीं करता वह हे पांडव! मुझे प्राप्त करता है।

[इससे पूर्वके अध्यायोंमें भगवानने अर्जुनको आत्माका अमरत्व, सृष्टि और सृष्टिकर्ताका परस्पर संबंध, क्षराक्षर ज्ञान, प्रकृति और पुरुषका भेद इत्यादि बातें विस्तारके साथ समझायीं और १० वें अध्यायमें यह सारा जगत् ईश्वरमय ही है, यह दिखानेके लिये अपनी विभूतियोंका पृथक् पृथक् वर्णन किया और अन्तमें यह बतलाया, "यह समझो कि मैं एक अंशसे ही यह सारा जगत् व्याप्त किये हुए हूं।" इसलिये इस अध्यायके आरंभमें अर्जुन कहते हैं कि आपने जो अध्यात्मज्ञान सुनाया उससे मेरा मोह तो दूर हो गया है पर हे योगेश्वर! मुझे अपना वह परम ऐश्वर रूप भी दिखाओ जो आपकी समष्टिविभूति है— जिस रूपके परे फिर आपका कोई रूप नहीं है। अखिल ब्रह्मांड- में व्याप्त परमात्माका वह अखिल विश्वब्रह्मांड रूप देखना क्या कोई सहज बात है? यह कहना सहज है कि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है पर उस सर्वत्र व्याप्त परमात्माके विश्वरूपको सामने लाकर उसपर ध्यान जमाना दिव्य दृष्टिके विना असंभव ही है। श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं, मैं तुम्हें वह दिव्य दृष्टि देता हूं। श्रीकृष्णने वह दिव्य दृष्टि अर्जुनको दी और अर्जुनने उससे भगवानका विश्वरूप देखा। वह दिव्य दृष्टि क्या है यह समझना बड़ा ही कठिन काम है क्योंकि वह लौकिक नहीं, अलौकिक है। लौकिक दृष्टि तो यह है कि हम अपने चर्मच-

क्षुओंसे जिस वस्तुको जिस रूपमें देखते हैं उस रूपके परे हमारी दृष्टि नहीं जाती और जितनी दूरतक नेत्रोंकी ज्योति पहुंचती है उतनी दूरतक ही हम देख पाते हैं। हम अलग अलग सब वस्तुओंको भिन्न भिन्न समयमें देख सकते हैं और उनके पृथक् अस्तित्वका ही दर्शन कर सकते हैं। यह हमारी लौकिक दृष्टि है। अलौकिक दृष्टि यह है कि ये सारे जड़जंगम पदार्थ एक साथ एक ही विराट् शरीरके रूपमें दिखायी देते हैं जैसे कि अर्जुनको दिखायी दिये। अनन्त आकाशमें स्थित असंख्य तारा-मंडल और ग्रहमालाओंसे लेकर पातालके भी पातालतक जितने देव, असुर, यक्ष, किन्नर, प्रेतपिशाच, मनुष्य और पशुपक्षी तथा कृमीकीट और पंचमहाभूतोंके पृथक् और समष्टिगत जड़ पदार्थ हैं उन सबको एक साथ देखना—एक साथ उस विराट् पुरुषके दर्शन करना वास्तवमें अत्यंत दुर्लभ है। ऐसे दुर्लभ दर्शन अर्जुनको हुए—उसी विराट् शरीरमें उसे उस महायुद्धका भूत, भविष्य, वर्तमान दिखायी दिया जिस महायुद्धसे वह पहले पीछे हटना चाहता था। भगवानने अपना संपूर्ण विश्वरूप दिखाकर अर्जुनसे कहा कि मैं काल हूं और इस समय लोकसंहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूं। यह कहकर अर्जुनको यह ज्ञान करा दिया कि यह युद्ध स्वयं परमात्मा ही करा रहा है इसे न कोई रोक सकता है न अपनी इच्छासे ही कुछ काम ले सकता है— यदि कुछ कर सकता है तो यही कि अपनी इच्छा भगवानकी इच्छामें मिला दे। उस विराटरूपका वर्णन जो इस

अध्यायके श्लोकोंमें हुआ है उसका स्पष्टीकरण उन्हीं दिव्य श्लोकोंके वारंवार पाठसे ही हो सकता है और किसी तरहसे नहीं। परमात्माके विराट्-रूपका यह वर्णन वह दिव्य काव्य है जिसका आनंद उसीके वार बार पाठ, मनन और ध्यानसे हो आ सकता है, और इसका संपूर्ण आनंद तो तभी मिल सकता है जब वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जो अर्जुनको प्राप्त हुई थी। उस दिव्य दृष्टिका रहस्य श्रीकृष्ण बतलाते हैं, "वेदसे, तपसे, दानसे अथवा यज्ञसे यह रूप किसीको नहीं दिखायी दे सकता।" अर्थात् केवल वेदोंकी ऋचाओंके पाठसे अथवा नाना प्रकारके तपपुरश्चरणादिसे अथवा केवल अपनी संपत्तिका कुछ अंश दान कर देने या अश्वमेधादिक यज्ञ करनेसे यह रूप नहीं दिखायी दे सकता। तब किस प्रकार कोई इस रूपको देख सकता है? वह दिव्य दृष्टि किसीको किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? उसका एक ही साधन है—भगवानकी अनन्य भक्ति। जिस प्रकार कोई प्रेमी अपने प्रेमपात्रको सर्वत्र ढूंढता है—सर्वत्र उसीकी मूर्त्तिका ध्यान करता है उसी प्रकार सर्वत्र जो परमात्माकी ही खोज करता और उसीका ध्यान करता है वही इस विराट रूपका दर्शन कर सकता है। ऐसी अनन्य भक्ति हो कि जो कुछ कर्म हमारे हाथों हो वह भगवानको ही समर्पित हो और सर्वत्र भगवानका ही ध्यान हो तो वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो सकती है जिससे उस विराट रूपके दर्शन होते और भक्त उस रूपमें मिल जाते हैं।]

ग्यारहवां अध्याय समाप्त

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

बारहवां अध्याय

—:×:—

भक्तियोग

[ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें दिव्य दृष्टिका रहस्य बतलाते हुए जिस अनन्य भक्तिका संकेत भगवानने किया उसीका विस्तार अब इस अध्यायमें होगा और इसलिये इस अध्यायका नाम भक्तियोग है। ईश्वरकी भक्ति साकार रूपसे भी की जा सकती है और निराकार रूपसे भी। परंतु १०वें अध्यायमें साकार ईश्वरका ही वर्णन है। इसपर स्वभावतः ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि साकार ईश्वरकी उपासना और निराकारकी उपासनामें तारतम्य क्या है और यही प्रश्न अर्जुनने आगे किया है।]

(१) अर्जुनने प्रश्न किया—इस प्रकार सदा युक्त होकर जो भक्त आपकी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षरकी उपासना करते हैं उनमें श्रेष्ठ योगी कौन है ?

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

(२) श्रीकृष्ण कहते हैं—मुझमें चित्त लगाकर सदा युक्त-चित्त रहनेवाले जो लोग परम श्रद्धाके साथ मेरी उपासना करते हैं वे मेरी दृष्टिमें उत्तम योगी हैं।

(३-४) जो लोग अनिर्देश्य (अकथनीय), अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्तनीय, कूटस्थ[1], अचल, ध्रुव[2]अक्षरकी उपासना करते हैं, सब इंद्रियोंको विषयोंसे रोककर सबको समदृष्टिसे देखते हैं और जो सदा प्राणिमात्रकी सेवामें लगे रहते हैं वे मुझको ही प्राप्त करते हैं।

(५) (परन्तु) अव्यक्तमें जिनका चित्त आसक्त है उन्हें कष्ट अधिक होते हैं क्योंकि अव्यक्त गति देहधारियोंको बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होती है।

१ निर्विकार। २ सदा रहनेवाला।

[व्यक्तके उपासक श्रेष्ठ हैं या अव्यक्तके, यह प्रश्न था। इसके उत्तरमें भगवानने पहले उपासनाकी श्रेष्ठताका सिद्धान्त बताया कि चाहे कोई व्यक्तकी उपासना करे चाहे कोई अव्यक्तकी करे, श्रेष्ठ उपासक वही है जो परम श्रद्धाके साथ अनन्यभक्तिसे उपासना करता है। अव्यक्तकी उपासना भी वही है जो व्यक्तकी। पर अव्यक्तकी उपासना करना कोई हंसीखेल नहीं है; देहादिसे जो मनुष्य बद्ध है वह अपनी इस बद्धावस्थामें अव्यक्तकी कल्पना भी नहीं कर सकता और कल्पना भी व्यक्तिकरण है इससे अर्थात् व्यक्त पदार्थके सहारे अव्यक्तका अनुभव कोई कैसे कर सकता है? अव्यक्तकी उपासना अव्यक्तके प्रत्यक्षानुभवसे ही सिद्ध होती है। इसलिये 'अव्यक्त' या 'निराकार' कहनेसे ही निराकार ब्रह्मकी उपासना नहीं हो सकती। इस व्यक्त संसारके परे जो अव्यक्त ब्रह्म है, उपासना उसीकी करनी है, पर साधककी अवस्थामें वह इस व्यक्त विश्वरूप अथवा विभूति विशेषरूपके द्वारा ही संभव है। जैसे एक मनुष्य दूसरे मनुष्यकी देहको देखकर ही उसकी आत्माको प्रणाम या अभिवादन कर सकता है उसी प्रकार इस संसारके स्थूल अथवा सूक्ष्मरूपको देखकर ही उसकी आत्माकी उपासना की जा सकती है। इसलिये उपासनामें तरतम भाव व्यक्त-अव्यक्तमें नहीं प्रत्युत श्रद्धाभक्तिकी अत्यधिकतामें है। अनन्य योगसे ध्यान करना ही श्रेष्ठ है। यह अनन्य योग कैसे प्राप्त हो इसका वर्णन आगे करते हैं।]

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

(६-७) जो लोग अपने सारे कर्म मुझे अर्पण कर मत्परायण होते हुए, अनन्य योगसे मेरा ध्यान करते और मेरी उपासना करते हैं उन मच्चित्त पुरुषोंको हे पार्थ! मैं इस मृत्युरूप संसार-सागरसे बहुत जल्द छुड़ाता हूँ।

(८) अपने मनको मेरी तरफ लगाओ और मुझमें ही अपनी बुद्धि स्थिर करो तो तुम इसके पश्चात मुझमें ही वास करोगे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

(९) इस प्रकार मुझमें यदि अपना चित्त स्थिरतासे तुम न लगा सको तो हे धनंजय! अभ्यासयोगसे मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा करो (अर्थात् मेरी तरफ चित्त लगानेका अभ्यास करो)।

(१०) अभ्यासमें भी यदि तुम असमर्थ हो तो अनन्यभक्ति-

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥१२॥

के साथ मेरे लिये ही कर्म करनेवाले बनो। मेरे लिये कर्म करनेसे भी तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी।

(११) अथवा यदि यह भी न बन पड़े तो मेरे योगका आश्रय करके मनको जीतकर तब सब कर्मोंके फल त्याग करो।

(१२) अभ्याससे ज्ञान ही श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यानसे कर्मफल त्याग करना श्रेष्ठ है और (ऐसे ही त्यागसे) फिर शान्ति प्राप्त होती है।

[सच्ची भक्ति यही है कि भक्तका चित्त भगवानके चिंतनमें स्थिर हो जाय। भगवानकी ओर चित्त लगानेका अभ्यास करते करते यह स्थिरता प्राप्त होती है। पर यह अभ्यास ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्म करनेसे ही होता है और ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करना ईश्वरकी शरण लेकर मनको जीतकर सब कर्मोंका फल त्याग करनेसे होता है। यही ६ से ११ श्लोकोंका तात्पर्य है। अनन्ययोग अथवा ईश्वरकी अनन्य उपासना क्या है और वह कैसे पूर्ण होती है यही इसमें बताया है। ६ से ११ वें श्लोकतक जो उपदेश है उसका भाव यही है कि सबसे पहले ईश्वरकी शरण लो, इससे मनको जीत सकोगे

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

और तब कर्मोंका फल त्याग कर सकोगे। जो मनुष्य कर्मफल त्याग कर सकता है वह ईश्वरके लिये कर्म कर सकता है और जो ईश्वरके लिये कर्म कर सकता है उसका चित्त ईश्वरमें स्थिर हो सकता है। ईश्वरमें चित्त स्थिर करनेका यही अभ्यास है और इसी अभ्याससे चित्त सदाके लिये स्थिर हो जाता है। ऐसा स्थिर चित्त होनेसे भक्त भगवानमें ही वास करता है जिसका निर्देश ८ वें श्लोकमें किया है। १२ वें श्लोकमें यही बात दूसरे ढंगसे बतलायी है। अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है अर्थात् अभ्यासका हेतु ही यह है कि प्रकृति-पुरुषका भेद स्मरण रहे, ज्ञाननिष्ठा बढ़े और चित्त स्थिर हो जिसमें आत्मस्वरूपका ध्यान कर सकें। इसी अर्थमें ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है। ध्यानसे कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि ध्यानका ही परिणाम है कि मनुष्य विषयवासनाओंको त्याग सकता है और विषयवासनाओंको जो त्याग सकता है वही श्रेष्ठ भक्त है और उसको शान्ति प्राप्त होती है। ऐसे श्रेष्ठ भक्तके लक्षण ही आगे बतलाते हैं।]

(१३-१४) जो किसीसे द्वेष नहीं करता, प्राणीमात्रसे जो प्रेम करता है, जो दयालु है, 'मेरा, मेरा' का ख्याल जिसका छूट

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

गया है, जिसमें देहाभिमान नहीं रहा, जो सुखदुःखमें एकसा रहता है, जो क्षमाशील है, जो संतुष्ट, सदा योगमें रत, जितेंद्रिय, दृढव्रती है, और जिसने मन और बुद्धि मुझे अर्पण कर दी है—ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है।

(१५) जिससे संसारको कुछ कष्ट नहीं होता और जिसे संसारसे कष्ट नहीं होता, जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेगसे मुक्त है वह मुझे प्रिय है।

(१६) जो किसी बातकी इच्छा नहीं करता, जिसका शरीर और मन स्वच्छ और शुद्ध है, सब कर्म जो दक्षताके साथ (अर्थात् यथाविधि और समयपर) करता है, फलाफलसे जो उदासीन रहता है, जो ऐसी अवस्थाको प्राप्त हुआ है जहां किसी बातका क्लेश नहीं होता, जिसने (व्यक्तिगत स्वार्थके) सब उद्योग छोड़ दिये हैं, ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है।

(१७) (कोई अच्छी वस्तु मिलनेपर)-जिसे न आनन्द होता है न (बुरी वस्तु पाकर) जो दुःखी होता है; जो न दुःख करता

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥
इति श्रीमद्भगवद्गीता० भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

है न किसी बातकी इच्छा ही रखता है; शुभ अशुभ जिसने त्याग कर दिया है, ऐसा जो भक्तिमान् है वह मुझे प्रिय है ।

(१८-१९) शत्रु और मित्रके प्रति जिसका समान भाव है, मान-अपमान, सरदी-गरमी, तथा सुख-दुःखमें जो एकसा रहता है, जो निसङ्ग है, जो निन्दा और स्तुतिमें सम रहता है, जो मौनी (याने मितभाषी) है, जो कुछ मिले उससे जो संतुष्ट रहता है, जो घरबार नहीं रखता (अर्थात् सारा विश्व ही जिसका घर है) और परमार्थमें जिसकी बुद्धि स्थिर रहती है ऐसा भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है ।

(२०) जो श्रद्धावान और मत्परायण होकर इस पूर्वोक्त धर्मरूपी अमृतका सेवन करते हैं वे भक्त मेरे अत्यन्त प्रिय हैं ।

[दूसरे अध्यायमें स्थिरप्रज्ञके जो लक्षण बतलाये हैं वे ही लक्षण इस अध्यायमें भक्तके बतलाये हैं। इस प्रकार स्थितप्रज्ञ और भक्त एक ही है। यह अवस्था प्राप्त करनेके लिये परब्रह्म परमेश्वरकी व्यक्त उपासना करनी चाहिये अर्थात् समस्त विश्वब्रह्माण्डमें उसी परब्रह्मका दर्शन करना चाहिये और व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़कर समस्त प्राणियोंके हितमें रत रहना चाहिये, यही इस अध्यायका तात्पर्य है।]

बारहवां अध्याय समाप्त

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

तेरहवां अध्याय

—:×:—
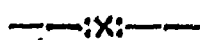
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

[पिछले अध्यायमें परब्रह्म परमेश्वरकी व्यक्त-उपासना द्वारा पराभक्तिकी अवस्था प्राप्त करनेका उपदेश दिया। परन्तु व्यक्त उपासना पूर्णरूपसे करनेके लिये भगवानके इस व्यक्तरूपको अच्छी तरह समझना होगा। सातवें अध्यायमें इसीलिये ज्ञान-विज्ञानयोग बतलाकर विश्वब्रह्माण्ड और विश्वात्माका परस्पर कैसा संबंध है यह बतलाया और ११ वें अध्यायके अन्ततक उस विश्वात्माके व्यक्तरूपका वर्णन किया परन्तु इससे विश्व-ब्रह्माण्डका अर्थात् विश्वात्माके व्यक्तरूपका पूर्ण दर्शन नहीं होता जबतक विश्वात्माकी सत्तासे उत्पन्न होनेवाली इस सृष्टिके जड़ रूपके पीछेकी सूक्ष्म शक्तियोंका भी दर्शन न हो। इसीलिये इस अध्यायमें प्रकृतिकी सूक्ष्म शक्तियोंका वर्णन आरम्भ होता

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

है। क्षेत्र अर्थात् यह अखिल विश्व और क्षेत्रज्ञ अर्थात् इसकी आत्मभूतशक्ति इन दोनोंका परस्परभेद दिखलाते हुए इस क्षेत्रकी सृष्टिका क्रम दिखलाना है इसीलिये इस अध्यायका नाम क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग है।]

(१) भगवानने कहा—हे कुन्तिनन्दन! इस शरीरकोही क्षेत्र कहते हैं। इसको जानता है उसे उसको जाननेवाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

(२) हे भारत! सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ भी मैं हूं; ऐसा जानो, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वही मेरे मतसे ज्ञान है।

(३) वह क्षेत्र जो कुछ है, जैसा है, उसके जो विकार हैं और किससे कौन विकार उत्पन्न होता है तथा वह क्षेत्रज्ञ जो है, उसका जो कुछ प्रभाव है, वह सब मुझसे संक्षेपमें सुनो।

(४) ऋषियोंने अनेक प्रकारसे, नाना विध छन्दों द्वारा इसका पृथक् पृथक् वर्णन किया है और ब्रह्मसूत्रोंके कार्यकारण-रूप हेतुओंसे निश्चित पदों द्वारा भी इस विषयका वर्णन हुआ है।

(५-६) (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये) पांच

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेंद्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥
अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (मूल प्रकृति), दशों इन्द्रिय और एक मन, इन्द्रियोंके पांच विषय[१], इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात[२], चेतना[३], धृति[४], इन्हींके समुदायको विकारसहित क्षेत्र कहते हैं ।

(७-११) अपनी प्रतिष्ठाकी इच्छा न रखना, धर्मका झूठा स्वांग न लेना, दूसरोंका अपराध क्षमा करना, सबसे सीधा व्यवहार करना, गुरुकी सेवा करना, भीतर बाहरसे स्वच्छ रहना, सत्कार्यमें दृढ़ रहना, मनको काबूमें रखना, विषयोंसे विरक्त होना, अहंकार न रखना, और जन्म मृत्यु जरा रोग और दुःख ये शरीरके पीछे लगे हुए दोष हैं यह जानना, कर्मफलमें

१-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच इन्द्रियोंके पांच विषय हैं ।
२ पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाशकी मिलावटको संघात कहते हैं ।
३ प्राणादिकका व्यक्त व्यापार अथवा शरीरकी जीवितावस्था ।
४ जिस शक्ति द्वारा देहेन्द्रियोंका धारण होता है ।

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

अटक न जाना, स्त्री पुत्र और घर द्वारमें फंस न जाना, इष्ट हो अनिष्ट हो हर हालतमें समचित्त रहना, अनन्ययोगपूर्वक मेरी अचल भक्ति करना, एकान्तमें रहना, मनुष्योंकी भीड़ भाड़में रहना पसन्द न करना, आत्मज्ञान ही नित्य है यह जानना और उसीमें स्थित रहकर तत्वज्ञानके अर्थका दर्शन करना—इसीको ज्ञान कहते हैं (अर्थात् ये ज्ञानियोंके लक्षण हैं) और इसके विपरीत जो है वह अज्ञान है ।

(१२) जो ज्ञेय है जिसे जानकर मनुष्य अमर होता है, वह मैं अब बताता हूं, वह अनादि परब्रह्म है, उसे सत भी नहीं कहते असत भी नहीं कहते (अर्थात् वह जड़ और जीव दोनोंके परे है)

(परन्तु वह सारे विश्वमें व्याप्त है, इसलिये—)

(१३) उसके चारों ओर हाथ पांव हैं, चारों ओर आंखें

सर्वेंद्रियगुणाभासं सर्वेंद्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

सिर और मुख हैं; उसके चारों ओर कान हैं, वही संसारमें सबको आवरण करके रहता है ।

(१४) सब इन्द्रियोंके विषयमें उसका आभास होता है पर उसके कोई इन्द्रिय नहीं है; वह सब बन्धनोंसे रहित है, पर सबको धारण किये हुए है; वह निर्गुण है और गुणोंका भोक्ता भी।

(१५ वह सब प्राणियोंके बाहर भी है और भीतर भी। वह स्थावर भी है और जङ्गम भी। सूक्ष्म होनेसे वह अज्ञेय है, याने जाना नहीं जाता। वह दूर है, और समीप भी।

(१६) वह अविभक्त है याने एक है, उसके टुकड़े नहीं हो सकते; पर वह भूतोंके अन्दर बटा हुआसा रहता है; सब भूतोंको धारण करनेवाला वही है, वही सबको उत्पन्न करनेवाला और वही नाश करनेवाला है। वही ज्ञेय है।

(१७) उसे अन्धकारके परे रहनेवाला प्रकाशकोंका भी

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

प्रकाश कहते हैं। वही ज्ञानगम्य (ज्ञानसे जानने योग्य), वही ज्ञान और वही ज्ञेय है। वह सबके हृदयमें वास करता है।

(१८) यहांतक क्षेत्र, ज्ञान, और उस ज्ञेय ब्रह्मका संक्षेपसे वर्णन हुआ। इसको जानकर मेरा भक्त मेरे भावको प्राप्त होता है।

(१९) प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं। विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं।

(२०) कार्य अर्थात् शरीर और कारण अर्थात् इन्द्रियोंके कार्य करनेकी शक्तिका कारण प्रकृति और सुख दुःखके भोगका कारण पुरुष बताया जाता है।

(२१) प्रकृतिमें रहता हुआ पुरुष प्रकृतिके गुणोंको भोगता है। पुण्य अथवा पाप योनियोंमें जो जन्म होता है उसका कारण प्रकृतिके इन्हीं गुणोंमें फंसना है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥
ध्यानेनात्मनि पश्यंति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये त्वेवमजानंतः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरंत्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥
यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

(२२) इस देहमें रहनेवाले इस साक्षी, अनुमन्ता (अनुमति देनेवाले) पालक और भोक्ताको महेश्वर, परमात्मा या परं पुरुष कहते हैं।

(२३) इस प्रकार जो इस पुरुषको और गुणों सहित प्रकृतिको जान लेता है वही सब कर्म करके भी पुनर्जन्म नहीं लेता।

(२४) कोई ध्यानसे आप ही अपने अन्दर अपने आपको देख पाते हैं, और कोई सांख्ययोगसे तथा कोई कर्मयोगसे यह अनुभव प्राप्त करते हैं।

(२५) और अन्य लोग जो यह नहीं जानते और दूसरोंसे सुनकर इसकी उपासना करते हैं वे सुनी हुई बातको प्रमाण माननेवाले लोग भी मृत्युको पार कर जाते हैं।

(२६) संसारमें जो कोई स्थावर या जंगम वस्तु उत्पन्न

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

होती है। वह यह समझ लो कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न होती है।

(२७) सब भूतोंमें समान रूपसे रहनेवाले और नाश होने-वाले पदार्थोंमें अविनाशी रूपसे विराजनेवाले परमेश्वरको जो देख पाता है वही देखता है।

(२८) वह सर्वत्र समरूपसे रहनेवाले ईश्वरको देखता हुआ, आप ही अपनी हिंसा नहीं करता और इससे परमगति लाभ करता है।

(२९) सब कर्म प्रकृति द्वारा ही होते हैं और आत्मा कुछ नहीं करता, यह जो जानता है वही जानता है (ज्ञानी है)।

(३०) जब कोई भूतोंकी पृथक् पृथक् सत्ता एकके ही अंदर देखता है और यह जानता है कि उसीसे ब्रह्माण्डका विस्तार है तब वह ब्रह्मको पा लेता है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यांति ते परम् ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

(३१) अनादि और निर्गुण होनेसे यह परमात्मा अव्यय है। शरीरस्थ होकर भी यह न कुछ करता है न किसी कर्मका इसे बंधन होता है।

(३२) जिस प्रकार सर्वत्र फैला हुआ आकाश सूक्ष्म होनेसे किसी वस्तुमें लिप्त नहीं होता उसी प्रकार देहमें सर्वत्र रहकर भी आत्मा लिप्त नहीं होता।

(३३) जिस प्रकार एक ही सूर्य समस्त भूमण्डलको प्रकाशित करता है उसी प्रकार हे भारत! इस संपूर्ण क्षेत्रको क्षेत्री प्रकाशित किया करता है।

(३४) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके बीच जो यह अन्तर है और प्राणियोंका जो प्रकृतिसे मोक्ष है उसे ज्ञानचक्षुओंसे जो जान लेते हैं वे परम पद प्राप्त करते हैं।

[क्षेत्र अथवा शरीर या यह विश्वब्रह्मांड क्या है यह बतलाने-के लिये पांचवें श्लोकमें प्रकृतिके २४ तत्व गिनाये हैं। परन्तु इन चौवीस तत्वोंसे ही सम्पूर्ण जगतका स्वरूप सामने नहीं आता। २४ तत्वोंसे गठित इस देह या जड़ जगतके परे जो पुरुष या परंपुरुष है वह तो है ही; पर इस देहके जो कारण हैं अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखादि उनका भी विचार होना चाहिये। कुछ लोग इन्हें क्षेत्र नहीं वल्कि क्षेत्रज्ञके ही भाव मानते हैं। इसलिये छठे श्लोकमें यह स्पष्टरूपसे बतला दिया कि ये क्षेत्रके ही भाव हैं और यह बतलाकर सम्पूर्ण स्थूल और सूक्ष्म जगतका बोध करा दिया। इस प्रकार विकारोंसहित क्षेत्रका वर्णन करके यह बतलाया कि जिस पुरुषको इस क्षेत्रका इस प्रकार अनुभवसिद्ध ज्ञान हो जाता है उसकी क्या अवस्था होती है। ज्ञानी पुरुषके जो लक्षण हैं उनका इसी-लिये ७ से ११ श्लोकतक वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् क्षेत्रज्ञका वर्णन आरम्भ होता है। यह जो क्षेत्र है, उसी क्षेत्रज्ञसे व्याप्त है, उसीका ज्ञान ज्ञान है, वही ज्ञेय है। वह सत भी नहीं है असत भी नहीं; अर्थात् वह परिवर्तनशील प्रकृति भी नहीं है और अनादि मूल प्रकृति भी नहीं। इसलिये सब इंद्रियोंके विषयोंमें उसका आभास होनेपर भी वह इंद्रिय-रहित है, वह सबको धारण करता है, पर बंधनरहित है; सब गुणोंका भोक्ता है, पर निर्गुण है अर्थात् सगुण निर्गुण, व्यक्त अव्यक्त, सत् असत् सब कुछ वही है। वह दूर है क्योंकि अखिल

विश्व मायासे आच्छन्न होनेके कारण उसको नहीं जानता—वह विश्वसे दूर ही रह जाता है; पर समीप भी है—इतना समीप है कि इससे अधिक समीप दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है, क्योंकि वह सर्वत्र है—सबके हृदयमें वास करता है। वह एक है पर अनेक रूपोंमें दिखायी देता है। इस प्रकार १८ वें श्लोकतक क्षेत्रज्ञका वर्णन हुआ। इसके पश्चात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—प्रकृति और पुरुष दोनोंके परस्पर संबंधका वर्णन करते हैं। दोनों ही अनादि हैं, पर सत्व, रज और तम ये तीनों गुण और इनका विस्तार प्रकृतिसे ही होता है। पुरुष प्रकृतिमें रहकर इन गुणोंके कारण सदसद्योनि प्राप्त करता है अन्यथा यथार्थमें वह स्वतंत्र है। गुण ही सब कुछ करते कराते हैं। पर इसका कारण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग है—इस संयोगकी सृष्टि नहीं होती—कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार सृष्टिका यह व्यापार हो रहा है—नित्य नाना प्रकारके उलटफेर हो रहे हैं। पर आत्मा समान रूपसे रहता है। अनादि और निर्गुण होनेसे शरीरस्थ होकर भी यह न कुछ करता है न इसे किसी कर्मका बंधन ही होता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञमें यही अंतर है—आत्मा स्वतंत्र है और प्रकृति ही बद्ध है। मोक्ष नाम भी प्रकृतिके छूटनेका है। यह ज्ञान जिसको हो जाता है वह आत्मरूपमें लीन हो जाता है।]

तेरहवाँ अध्याय समाप्त

चतुर्दशोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

चौदहवां अध्याय

गुणत्रयविभागयोग

[पिछले अध्यायमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विभाग बतलाते हुए यह कहा जा चुका है कि जन्म मृत्यु आदि समस्त सृष्टि व्यापारका कारण प्रकृति है। इसी प्रकृतिके गुणोंसे यह सारा व्यापार हुआ करता है। इसलिये अब यह बतानेकी आवश्यकता हुई कि ये गुण क्या हैं और किस प्रकार उनसे सब कर्म हुआ करते हैं। इसीलिये इस अध्यायमें "गुणत्रयविभाग" बताया जायगा जिससे सृष्टिकर्मका रहस्य मालूम हो और इन गुणोंके परे जो त्रिगुणातीत ब्रह्म है उसका ध्यान सुगम हो।]

(१) श्रीकृष्ण कहते हैं—फिरसे मैं वह ज्ञान जो सब ज्ञानोंमें परम श्रेष्ठ है, बतलाता हूं जिसको जानकर सब मुनि यहांसे परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च ॥२॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥
सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्तयः संभवंति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥६॥

(२) जो इस ज्ञानको प्राप्त कर मेरे भावको प्राप्त होते हैं वे सृष्टिरचनाकालमें भी जन्म नहीं लेते और प्रलय होनेपर भी दुखी नहीं होते।

(३) महद्ब्रह्म (प्रकृति) मेरी योनि है। उसमें मैं गर्भ रखता हूं। उसीसे हे भारत! सब प्राणी उत्पन्न होते हैं।

(४) हे कौन्तेय! भिन्न भिन्न योनियोंके जो जो शरीर हैं उनकी योनि महद्ब्रह्म है और मैं बीज देनेवाला पिता हूं।

(५) सत्व, रज और तम प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुण हैं। ये इस अविनाशी आत्माको इस देहमें बांध रखते हैं।

(६) उसमें सत्वगुण निर्मल होनेसे प्रकाशका देनेवाला और निर्दोष है। हे निष्पाप अर्जुन! यह सुख और ज्ञानकी लालसासे (देहीको देहमें) बांध रखता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥७॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

(७) रजोगुण रागसे भरा हुआ है, इससे तृष्णा और आसक्ति उत्पन्न होती है जो हे कौन्तेय! कर्मकी अटकसे देहीको देहमें अटकाती है।

(८) तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला और सब जीवोंको मोहनेवाला है। हे भारत! यह प्रमाद, आलस्य और निद्रासे (देहीको देहमें) अटकाये रहता है।

(९) सत्वगुण सुखमें और रजोगुण कर्ममें लगाता है; पर तमोगुण ज्ञानको ढांककर प्रमादमें प्रवृत्त करता है।

[ये तीनों गुणोंके पृथक् पृथक् लक्षण हुए। पर इससे कोई यह न समझे कि ये तीनों गुण अलग अलग रहते हैं। तीनों गुण एक साथ रहते हैं। पर सम परिमाणसे नहीं रहते। यदि सम परिमाणसे रहें तो विश्वका लोप हो जाय क्योंकि इन तीनों गुणोंके कार्य परस्पर विरोधी हैं—एक दूसरेको काटनेवाले हैं। जैसे सत्व (अर्थात् ज्ञान) + तम (अज्ञान) = ०, सुख + दुःख = ०,

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

कर्म + आलस्य = ० । इसलिये सृष्टिकी स्थितिमें ये गुण सम परिमाणसे नहीं रह सकते । उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यमें ये तीनों गुण सम परिमाणसे नहीं रहते, किसीमें किसी गुणकी वृद्धि रहती है और अन्य दो गुण दबे रहते हैं । गुणोंकी यह घटबढ़ असंख्य प्रकारकी होती है । इसीसे संसारमें भिन्न भिन्न रुचि, विचार और आचारके लोग होते हैं ।]

(१०) हे भारत ! रज और तमको दबाकर सत्व गुण (प्रधान) होता है । (कभी) सत्व और तमको दबाकर रज और (कभी) सत्व और रजको दबाकर तमोगुण (प्रधान) होता है ।

[जिसमें जो गुण प्रधान होता है वह उसी गुणवाला समझा जाता है; उसके कार्य भी मुख्यतः उसी गुणके अनुकूल हुआ करते हैं । कार्योंसे पहचाना जाता है कि कौन मनुष्य सात्विक, कौन राजसी और कौन तामसी है । इसलिये अब उनके लक्षण बतलाते हैं ।]

(११) इस शरीरकी सब इन्द्रियोंमें जब प्रकाश अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होता है (अर्थात् ज्ञानसे जब सब इन्द्रियां संयत हो जाती हैं) तब यह समझना चाहिये कि, सत्वगुण प्रधान हुआ है ।

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायंते विवृद्धे कुरुनंदन ॥१३॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

(१२) हे भरतश्रेष्ठ ! जब रजकी प्रधानता होती है तब लोभ, प्रवृत्ति, उद्योग, असंतोष और तृष्णा, ये सब उत्पन्न हुआ करते हैं।

(१३) हे कुरुनंदन ! तमके बढ़नेसे अंधकार, आलस्य, प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है।

[ये तीनों गुणोंके लक्षण हुए। ये ही तीन गुण सदसद् योनिमें जन्म होनेके कारण हैं यह पिछले अध्यायमें बताया जा चुका है। अब यह बतलाते हैं कि किस गुणके प्रभावसे किस योनिमें जन्म होता है।]

(१४) सत्वकी खूब वृद्धि हुई हो ऐसे समय मनुष्यका शरीरान्त हो तो उसे उत्तम तत्वके जाननेवालोंके निर्मल लोक (देवलोक) प्राप्त होते हैं।

(१५) रजकी वृद्धिमें शरीरान्त होनेसे कर्मसंगियोंमें (मृत्युलोकमें) जन्म होता है और तमकी वृद्धिमें देहान्त होनेसे मूढ़योनिमें (पशुपक्ष्यादिमें) जन्म होता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥
सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥
ऊर्ध्वं गच्छंति सत्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छंति तामसाः ॥१८॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

(१६) पुण्यकर्मका फल सात्विक—निर्मल बतलाते हैं, राजसी कर्मका फल दुःख और तामसी कर्मका अज्ञान है।

(१७) सत्वसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजसे लोभ होता है और तमसे प्रमाद और मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होता है।

(१८) सत्वगुणवाले ऊपर जाते हैं, राजसी मध्यमें रहते हैं; और नीच गुणकी वृत्तिमें रहनेवाले तामसी लोग नीचे गिरते हैं।

(१९) जब द्रष्टा (साक्षी पुरुष) यह देखता है कि प्रकृतिके गुणोंको छोड़ और कोई कर्ता नहीं है, और इन गुणोंके परे जो कुछ है उसे जानता है तब वह मेरे भावको प्राप्त करता है।

(२०) वह देही देहोत्पत्तिके कारण इन तीन गुणोंको पार

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तंत इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

कर जन्म, मृत्यु, जरा आदि दुःखोंसे मुक्त होकर अमरत्व लाभ करता है।

(२१) अर्जुनने पूछा—हे नाथ! इन तीन गुणोंको पार किया, यह किन लक्षणोंसे मालूम होता है? ऐसे (त्रिगुणातीत)का आचार क्या है और कैसे इन तीन गुणोंको कोई पार कर सकता है?

(२२-२५) भगवानने कहा—हे पांडव! जो प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह(अर्थात् सत्व, रज और तम)के कार्य प्राप्त होनेपर उनसे घृणा नहीं करता और न उनके बन्द पड़नेपर उनकी इच्छा रखता है—जो उदासीनके समान रहता है, गुणोंके कारण जो विच-

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० गुणत्रयविभागयोगो नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

लिप्त नहीं होता और यह सोचे हुए रहता है कि गुण अपना काम कर रहे हैं (मुझसे कोई वास्ता नहीं), जो सुख और दुःख एकसा समझता है, जो स्वस्थ रहता है, जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना बराबर है, जो प्रिय अप्रिय एकसा ही समझता है, जो धीर है, अपनी स्तुति और निंदा जिसके लिये समान है— मानापमान और शत्रु-मित्रमें जो समान भाव रखता है, जिसने सब काम्य कर्मोंको त्याग दिया है, उसे गुणातीत (तीनों गुणोंके पार पहुंचा हुआ) कहते हैं।

(२६) और जो अव्यभिचारिणी याने अनन्य भक्तिसे मेरी सेवा करता है वह इन गुणोंको पारकर ब्रह्मपद पानेमें समर्थ होता है।

(२७) मैं ही अमृत अव्यय ब्रह्मका, शाश्वत (सनातन) धर्मका और परम सुखका आधार हूं।

[तीनों गुणोंके लक्षण, उनके कार्य और उनके परिणाम बतलाकर ब्रह्मपदप्राप्तिका यह उपाय बतलाया कि इन तीनों

गुणोंको पार करो। इन गुणोंके पार पहुंचनेकी जो अवस्था है उसका वर्णन किया—गुणातीतके लक्षण बता दिये और यह बतलाया कि यह अवस्था उसे प्राप्त हो सकती है जिसने समत्व-बुद्धि प्राप्त कर ली है अथवा जो भगवानकी अनन्य भक्तिसे सेवा करे—व्यक्त और अव्यक्तरूप प्रकृतिपरमेश्वरकी शरण ले जिसका वर्णन पिछले अध्यायोंमें कहीं विभूतियोंके रूपमें, कहीं विश्व-ब्रह्मांडके रूपमें, कहीं क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपमें हुआ है। इस अनन्य भक्तिसे गुणातीतको केवलानंदावस्था प्राप्त होती है और उसीसे उस परम पुरुषके दर्शन होते हैं जिसका वर्णन अगले अध्यायमें किया जायगा।]

चौदहवां अध्याय समाप्त

पंचदशोऽध्यायः
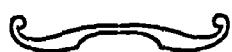
श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

पंद्रहवां अध्याय

पुरुषोत्तमयोग

[पिछले अध्यायमें यह वर्णन हुआ कि समत्वबुद्धि योगसे गुणातीतावस्था प्राप्त होती है अथवा अनन्य भक्तिसे भी वह अवस्था सिद्ध होती है। दोनों बातें एक ही हैं, क्योंकि अनन्य भक्तिके बिना समत्वबुद्धि नहीं हो सकती और समत्वबुद्धिके बिना अनन्य भक्ति नहीं हो सकती। ऐसी अनन्य भक्ति अथवा समत्वबुद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है जबतक जगत्, जीव और परमेश्वरका परस्पर सम्बन्ध अच्छी तरह ध्यानमें न आ जाय? इसीलिये इस अध्यायमें पहले जगत्, फिर जीव और फिर परमेश्वरका वर्णन किया गया है और यह बतलाया गया है कि इन बातोंको ठीक-ठीक समझकर सांसारिक विषयोंसे विरक्त होना-संग त्याग देना ही पुरुषोत्तमप्राप्तिका मार्ग है। जगत्, जीव और

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके ॥२॥

ईश्वरका स्पष्ट भेद करके ईश्वरकी शरणमें जानेका इस प्रकार मार्ग बतलाया है। इसीलिये इस अध्यायका नाम "पुरुषोत्तम-योग" है।]

(१) जिस वृक्षका ऐसा वर्णन किया गया है कि उसका मूल ऊपरकी तरफ है, शाखाएं नीचेकी तरफ, वेद उसके पत्ते हैं और वह अविनाशी है, उस अश्वत्थ (पीपल) वृक्षको जो जानता है वही वेद जानता है।

(२) इसकी (सत्व, रज, तम इन) गुणोंसे बढ़ी हुई और (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन) विषयोंके अंकुरोंसे युक्त शाखाएं नीचे और ऊपर भी फैली हुई है और कर्म रूपसे पीछे प्रकट होनेवाली इसकी जड़ें इस मनुष्य लोकमें नीचेकी तरफ दूर दूरतक फैली हुई हैं।

[इन दो श्लोकोंमें इस अखिल विश्वब्रह्मांडका वृक्ष-रूपसे वर्णन किया है। यह वर्णन गीतामें ही नया नहीं है—गीताके पूर्वके ग्रन्थोंमें भी है और इसका संकेत भी "प्राहुः" शब्द कहकर पहले श्लोकमें किया गया है। कठोपनिषद्में "ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" इत्यादि वर्णन है। श्रुति-परंपरासे ही यह वर्णन चला आता है। इसीलिये यहां कहा है कि सच्चा वेदज्ञ वही है जो इस वेदोक्त ब्रह्मांडवृक्षका रहस्य जानता है। इसे अश्वत्थ वृक्षकी उपमा दी गयी है। इसका मूल

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

ऊपरकी ओर बताया है। सामान्य वृक्षोंका मूल नीचे होता है पर इसका ऊपर है, क्योंकि सामान्य वृक्षोंका मूल स्थूल होता है और इसका अत्यन्त सूक्ष्म है जिसे 'अव्यक्त' कहते हैं। यह सूक्ष्मता और साथ ही गंतव्य स्थानकी श्रेष्ठता दिखलानेके लिये ही मूल ऊपरकी ओर कहा गया होगा। शाखाएं नीचेकी तरफ हैं। शाखाएं बुद्धि, अहंकार, पंचतन्मात्राएं और पञ्च महाभूत हैं जो ऊर्ध्वमूल अव्यक्तसे निकली हैं। (इन्हीं शाखाओं पर समस्त प्राणी एकादश इन्द्रियोंके साथ वास करते हैं।) वेद इन शाखाओंपर निकले हुए पत्र हैं जो कर्मकाण्ड प्रतिपादन करके प्राणियोंको कर्ममें लगाते हैं। यह वृक्ष अविनाशी है अर्थात् यह सदा रहता है। सत्व, रज और तम इन गुणोंसे इसकी शाखाएं पुष्ट होती रहती हैं। विषयोंके अंकुर उनमें निकलते ही रहते हैं। ये सर्वत्र फैली हुई हैं—ब्रह्माण्ड क्या है—वन है और ये असंख्य शाखाएं असंख्य वृक्ष हैं जिनकी जड़ें नीचेकी तरफ दूर दूरतक फैली हुई हैं। विश्ववृक्षका मूल ऊपरकी तरफ है पर इन शाखाओंकी जड़ें नीचेकी तरफ हैं, क्योंकि इन शाखाओं-पर वास करनेवाले प्राणी फलेच्छासे नानाविध कर्म करके नीचेकी ओर ही जाते हैं, ऊपरकी ओर नहीं।]

(३-४) परन्तु इसका रूप यहां किसीको प्रत्यक्ष नहीं होता। न इसका अंत मालूम होता है न आदि ही और न

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तंति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥
निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छंत्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ॥६॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानींद्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

इसके आधारका ही पता लगता है। इस मजबूतीसे जड़ पकड़े हुए इस अश्वत्थवृक्षको असंगरूपी दृढ़ शस्त्रसे काटकर—तब इस भावनाके साथ कि "मैं उसी आदि पुरुषकी शरणमें हूं जिससे यह अनादि प्रवृत्ति (संसारवृक्षरूपिणी) निकली हुई है"—इस भावनाके साथ—वह पद ढूंढ़ निकालना चाहिये जहां जानेपर फिर लौटना नहीं पड़ता।

(५) जो मान और मोहसे रहित हैं, जिन्होंने आसक्तिके दोषोंको जीत लिया है, जो आत्मस्वरूपमें स्थित हैं, जिनकी सब इच्छाएं छूट गयी हैं, सुख-दुःख नामक द्वंद्वसे जो मुक्त हो गये हैं, ऐसे ज्ञाता पुरुष उस अव्यय पदको प्राप्त करते हैं।

(६) इस (पद) को सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि प्रकाशित नहीं करता। यह मेरा परम धाम है जहां जाकर कोई नहीं लौटता।

(७) मेरा ही सनातन अंश जीवलोकमें जीव होकर प्रकृतिगत पांचों इन्द्रियों और छठे मनको (अपनी तरफ) खींचता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानिवाशयात् ॥८॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥
उत्क्रामंतं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यंति पश्यंति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतंतो योगिनश्चैनं पश्यंत्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यंत्यचेतसः ॥११॥

(८) ईश्वर १ (जीव) जो (जब) शरीर प्राप्त करता है और जो (जब) छोड़ देता है तब भी वह इन्हें लेकर जाता है जैसे वायु आशयसे (पुष्पादिकोंसे) गन्ध ले जाती है ।

(९) कान, आंख, चमड़ा, जीभ, नासिका (पांचों इन्द्रियों) और (छठे) मनके सहारे जीव विषयोंको भोगता है ।

(१०) शरीर छोड़कर निकल जानेवाले, शरीरमें रहनेवाले या भोगनेवाले इस गुणान्वितको मूढ़ जन नहीं देख पाते, ज्ञान-चक्षु देख पाते हैं ।

(११) यत्नवान् योगी लोग इसे अपने अंदर देखते हैं । पर असंस्कृत अन्तःकरणवाले मूर्ख लोग प्रयत्न करके भी इसे नहीं देख पाते ।

---

१ देहादि संघातका स्वामी होनेसे अथवा जीव और ईश्वरमें अभेद दिखलानेके हेतुसे यहां जीवको ईश्वर कहा है ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

(१२) जो तेज सूर्यमें हैं और जिस तेजसे सारा जगत् प्रकाशमान है, जो तेज चंद्रमा और अग्निमें है, वह तेज मेरा ही समझो।

(१३) मैं ही पृथ्वीमें प्रवेशकर सब प्राणियोंको अपने तेजसे धारण करता हूं और रसात्मक चन्द्रमा होकर मैं ही सब वनस्पतियोंका पोषण करता हूं।

(१४) मैं ही वैश्वानर (जठराग्नि[1]) होकर सब प्राणियोंके शरीरमें रहता हूं और मैं ही प्राण तथा अपान वायुके साथ मिलकर चार[2] प्रकारके अन्नका पाचन करता हूं।

---

१ जठराग्नि उस अग्निका नाम है जो सब प्राणियोंके पेटमें रहता और भोजन परिपक्व करता है। जठराग्नि न हो तो किसीको भूख न लगे और खाया हुआ भी हजम न हो।

२ चार प्रकारका अन्न यह है— भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य। जो दांतोंसे चबाकर खाया जाता है वह भक्ष्य, जो बिना दांतोंसे चर्वण किये खाया जाय वह भोज्य, जो जीभसे चाटा जाता है वह लेह्य, और ऊखकी तरह जिसका रस चसा जाता है वह चोष्य कहाता है।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदांतकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

(१५) मैं सबके हृदयमें वास करता हूं; स्मृति और ज्ञान तथा उनका नाश मुझसे ही है; मैं ही सब वेदों द्वारा जाननेकी वस्तु हूं; और मैं ही वेदांतका कर्ता और वेदोंका जाननेवाला हूं।

(१६) संसारमें दो ही पुरुष हैं। एक नाश होनेवाला और दूसरा अविनाशी है। सब भूत क्षर हैं—अर्थात् नाशवान् हैं, और कूटस्थ, अचल अविनाशी है।

(१७) इस प्रकृति और पुरुषको छोड़ एक तीसरा पुरुष है जो पुरुषोत्तम है। उसे परमात्मा कहते हैं। वह अविनाशी ईश्वर है—वही तीनों लोकमें प्रवेशकर संपूर्ण संसारको धारण किये हुए है।

(१८) जिस कारण मैं विनाशी प्रकृतिके परे हूं और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूं, इस कारण मुझे लोक और वेद 'पुरुषोत्तम' कहते हैं।

योमामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० पुरुषोत्तमयोगो नाम
पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

(१९) जो पुरुष मोहसे छूटकर मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है वह सब कुछ जानता है और सब प्रकारसे मेरी भक्ति करता है।

(२०) हे निष्पाप अर्जुन! शास्त्रके इस गूढ़ रहस्यको, जो मैंने तुमसे कहा है, जानकर बुद्धिमान् पुरुषका जीवन सफल होता है।

[पहले ५ श्लोकोंमें संसारवृक्षका वर्णन कर यह बतलाया कि जो मनुष्य विषयोंमें फंसा हुआ है वह इस अनन्त वृक्षकी असंख्य शाखाओंमें ही भूलता भटकता रहता है। उसे उसके ऊर्ध्वमूलका पता नहीं लगता पर जो विषयोंके मोहसे स्वतंत्र हो चुका है, जो निःसंग है वह उस मूलको–उस अव्यय परम पदको प्राप्त करता है। फिर नवें श्लोकतक वह अव्यय परमात्मा, यह जगत् तथा ये भिन्न भिन्न रूपमें दिखायी देनेवाले आत्मा इनका परस्पर कैसा संबंध है यह बतलाया है। जीवात्मा ईश्वर-का ही सनातन अंश है। सनातनसे यह मतलब कि सर्वव्यापी

ईश्वरके नित्य नये अंश होकर जीवात्माओंकी सृष्टि नहीं हुआ करती, प्रत्युत यह जीवसृष्टि सनातन है और ईश्वरका यह वह अंश है जिसे जीवभूत अंश कहते हैं। अंशका अर्थ अलग अलग टुकड़े नहीं है, प्रत्युत यह अंश वैसा समझना चाहिये जैसा सर्वव्यापी आकाशका अंश घटाकाश है। घटाकाश आकाशका ऐसा अंश नहीं है जो संपूर्ण आकाशसे विभक्त हुआ हो—सारा आकाश एक ही है—घटके कारण खंडकी कल्पना होती है, इसी प्रकार जीवको ईश्वर या परमात्माका अंश कहा है। इसीलिये आठवें श्लोकमें जीवको ईश्वर भी कहा है। जीवमें आत्मा और प्रकृतिका संयोग है। आत्माके समान प्रकृति भी परमात्माका अंश है जो प्रकृतिभूत है और प्रकृतिसे ही पुरुषका, सूक्ष्म इंद्रियों और अन्तःकरणसे युक्त, लिंग शरीर बनता है। स्थूल शरीर छोड़ देनेपर भी यह लिंग शरीर रहता है। पर आत्मा न यह सूक्ष्म शरीर है न स्थूल शरीर है—वह इसके परे है और वह सर्वत्र है। इसीलिये १० वें श्लोकसे १५ श्लोकतक आत्मा और परमात्माका अभेदरूपसे वर्णन किया है। पर १६ वें श्लोकमें फिर जीव और प्रकृतिका भेद दिखलानेके लिये भेदरूपका वर्णन करके बतलाया है कि प्रत्येक जीवात्मा अविनाशी और इसकी प्रकृति विनाशी अर्थात् परिवर्तनशील है। इसके आगे प्रकृति और पुरुषके परे जो वह पुरुषोत्तम है इसका वर्णन है जो तीनों लोकमें प्रवेशकर संपूर्ण संसारको धारण किये हुए है जिसकी प्राप्ति संसारवृक्षके मोहसे छूटनेसे ही होती है।]

पन्द्रहवां अध्याय समाप्त

षोडशोऽध्याय

—:⁝:—

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

सोलहवां अध्याय

——:०:——

दैवासुर-संपद्विभाग-योग

[परमात्मा और जीवात्माके बीचमें संसारकी आसक्तिका परदा लटका हुआ है। जीवात्मा प्रकृतिका ज्ञान प्राप्त करके उसे हटा सकता है और फिर परमात्माके दर्शन कर सकता है। इसलिये श्रीकृष्ण भगवानने इससे पहले गुणत्रयविभागमें प्रकृतिके तीनों गुणोंका वर्णन कर बतलाया कि सत्वगुण ज्ञानका प्रकाश करनेवाला है, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपने और दो गुणोंको दबाकर इस सत्वगुणको प्रधान करना चाहिये। इससे पहले सत्वगुणके कुछ थोड़ेसे लक्षण आ गये हैं। उन्हींका यहां कुछ विस्तारके साथ उल्लेख है। सत्वगुणवाले मनुष्यकी प्रकृतिको दैवी प्रकृति कहते हैं। इसी दैवी प्रकृतिके लक्षण इस अध्यायमें बतलाये जायंगे और साथ साथ तामसी लक्षण भी दिखा दिये

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

जायंगे जिसमें लोग उन आसुरी बातोंसे बचें । इस अध्यायका यही विषय है और इसलिये इसका नाम "दैवासुरसंपद्विभाग-योग" है ।]

(जो पुरुष सत्वगुणी होते हैं अथवा जिनकी दैवी प्रकृति है उनके लक्षण श्रीकृष्ण भगवान इस प्रकार बतलाते हैं —)

(१—३) अभय (किसीसे न डरना) , विशुद्ध अन्तःकरण, सत्यानुसन्धानमें ही लगे रहनेकी अवस्था, दान, इंद्रियोंका दमन, यज्ञ (निष्काम भावसे लोकसंग्रहार्थ कर्म करना), स्वाध्याय, तप, सरलता (किसीसे छल कपट न करना), अहिंसा (किसी जीवको किसी प्रकार कष्ट न देना), सत्य (सच बोलना और सच ही वर्तना) , अक्रोध (क्रोध न करना) , त्याग , शान्ति, दूसरोंके दोष न प्रकट करना, सब प्राणियोंपर दया करना, विषयोंमें न फंसना, कोमल स्वभाव, (बुरे कर्म करनेमें) लाज, व्यर्थ ही हाथ पैर न हिलाना, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, (शरीर, मन और वचनसे) पवित्र रहना, किसीसे द्वेष न करना, अभिमान न करना, ये दैवी संपत्तिमें जन्मे हुए पुरुषके लक्षण होते हैं ।

दंभो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥
दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥५॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

(४) दंभ (अर्थात् अपने अवगुणोंको छिपाकर अपनी महत्ता प्रकट करना), दर्प (अर्थात् अपने धनस्वजनादिका गर्व), अतिमान (अर्थात् बहुत घमण्ड), पारुष्य (अर्थात् किसीका दिल दुखानेके लिये कटु वचन कहना) और अज्ञान (अर्थात् उल्टी बुद्धि रखना), ये आसुरी संपत्तिमें जन्मे हुए पुरुषके लक्षण हैं।

(५) दैवी सम्पतिसे मोक्ष होता है और आसुरीसे बंधन। हे अर्जुन! तुम शोक मत करो ; क्योंकि तुमने तो दैवी संपत्तिका आश्रयकर जन्म पाया है।

(६) इस लोकमें दो प्रकारके मनुष्योंकी सृष्टि है—देव और असुर। देवोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ कह चुके, अब असुरोंका हाल सुनो।

(७) आसुरी स्वभाववाले लोग न यह जानते हैं कि क्या करना चाहिये, न यह समझते हैं कि क्या न करना चाहिये। उनमें न शुद्धता रहती है, न आचार और न सत्य ही।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वा सद्ग्राहान्प्रवर्त्तंतेऽशुचिव्रताः ॥१०॥
चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

(८) वे संसारको मिथ्या मानते हैं और अप्रतिष्ठ समझते हैं (अर्थात् इसका कोई आधार नहीं मानते)। वे कहते हैं कि संसारका कोई ईश्वर नहीं है। ईश्वर और संसारका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। काम ही जगत्का मूल है, इसका और कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता।

(९) ऐसे विचारवाले, नष्टात्मा, अल्पबुद्धि और क्रूरकर्मा दुष्ट लोग संसारका नाश करनेके लिये उत्पन्न हुआ करते हैं।

(१०) वे लोग ऐसी इच्छाएं रखते हैं जो कभी पूरी न हों, और दंभ, मान और मदसे उन्मत्त होकर मोहवश अशुभ संकल्पोंको पूरा करनेके लिये बुरे कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं।

(११) वे जबतक जीते हैं, चिन्ता ही किया करते हैं। उनका बड़ा भारी उद्देश्य काम-भोग करना होता है। कामोपभोग ही जो कुछ है सो है, यही उनका निश्चय रहता है।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

(१२) वे तरह तरहकी आशाओंमें फंसे रहते हैं। कभी काम और क्रोधसे छुट्टी नहीं पाते और कामोपभोग करनेके लिये वे अन्यायसे धन इकट्ठा करना चाहते हैं ।

(उनके विचार बस ऐसे ही हुआ करते हैं—)

(१३) आज यह ले लिया है, अब वह मनोरथ भी पूरा कर लूंगा। इतना धन मेरे पास है ही, इतना और मिल जायगा।

(१४) इस शत्रुको तो मार लिया है—अब औरोंको भी मजा चखाऊंगा। बस फिर क्या है? मैं ही मैं हूं। ईश्वर, भोगी, सिद्ध, बलवान, सुखी सब कुछ मैं ही हूं। मेरे ऐसा भी कोई सुखी और बली है?

(१५) मैं धनी और कुलीन हूं। मेरी बराबरी करनेवाला है ही कौन? अब मैं यज्ञ करूंगा—दान दूंगा और मौजसे दिन काटूंगा। ये उन लोगोंके विचार हैं, जिनकी बुद्धि अज्ञानसे मारी गयी है।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजंते नाम यज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यांत्यधमां गतिम् ॥२०॥

(१६) इनके चित्तमें तरह तरहकी भ्रमकी लहर उठा करती हैं और ये मोहके जालमें और भोगोंमें सदा फंसे रहते हैं, और इस तरह घोर नरकमें जा गिरते हैं।

(१७) ये लोग अपनी ही प्रशंसामें मगन रहते हैं, अपने सामने किसीको कुछ नहीं समझते। धन, मान और गर्वसे फूले रहते, दंभसे नामके लिये शास्त्रविधि छोड़कर यज्ञ किया करते हैं।

(१८) अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधके आश्रयमें रहनेवाले ये निन्दक लोग अपनी और दूसरेकी देहमें रहनेवाले परमात्मासे द्वेष किया करते हैं।

(१९) उन क्रूर स्वभाववाले द्वेषी और नीच लोगोंको मैं सदा ही संसारकी आसुरी योनिमें ही पटक दिया करता हूं।

(२०) हे कुन्तिपुत्र! आसुरी योनिमें जन्म जन्मान्तर रहते

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥
एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥
इति श्रीमद्भगवद्गीता० दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम
षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

हुए ये मूढ़ लोग मुझे न प्राप्त करके नीचसे भी नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

(२१) हे अर्जुन ! काम, क्रोध और लोभ, ये नरकके तीन दरवाजे हैं इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।

(२२) तम (या नरक) के इन तीन दरवाजोंसे जो मनुष्य बचता है वह अपना कल्याण साधन करता हुआ परम गति लाभ करता है।

(२३) जो शास्त्रकी मर्यादाको तोड़कर मनमानी घरज़ानी करता है उसका कार्य सिद्ध नहीं होता, उसे सुख नहीं मिलता, न परम गति ही मिलती है।

(२४) इसलिये कार्य अथवा अकार्य समझनेके लिये तुम्हें

शास्त्रको प्रमाण मानना चाहिये, शास्त्र जैसा कहे वैसा करना ही इस लोकमें तुम्हें उचित है।

[यों तो मनुष्योंके असंख्य प्रकार हैं, पर कौन ईश्वरके मार्ग-पर है और कौन उसके विपरीत, इस दृष्टिसे इस मनुष्य लोकके दो ही विभाग किये जा सकते हैं—(१) देव (अर्थात् सात्विक प्रकृतिके लोग) और (२) असुर (अर्थात् जो इस मतके हैं कि "यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ जबतक जीये सुखसे जीये, ऋण करके घृत भी पीये। चोला जब छूट जायगा, तब फिर थोड़े ही आना होगा?।") आसुरी संपत्ति अधम योनिका कारण है और दैवी संपत्ति मोक्षका कारण है। इसलिये दैवी सम्पत्तिका साधन करना चाहिये। दैवी संपत्ति क्या है, यह आरंभमें बतलाकर फिर विस्तारसे आसुरी लक्षण गिनाये हैं जिसमें प्रत्येक साधक इन लक्षणोंमेंसे प्रत्येकको अपने अंदर ढूंढ़ ढूंढ़कर निकाल बाहर करे। अन्तमें सारांश रूपसे यह बताया कि आसुरी योनिका कारण काम, क्रोध और लोभ है। इससे जो बचेगा, वह परम गतिके मार्गपर आरूढ़ होगा और इससे बचनेका जो उपाय है वह यही है कि शास्त्रको प्रमाण मानकर उसके अनुसार कर्तव्य पालन करे। शास्त्र यही ज्ञानयुक्त कर्म करनेका उपदेश देनेवाला श्रीमद्भगवद्गीता नामक योगशास्त्र है।]

सोलहवां अध्याय समाप्त

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजंते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

सतरहवां अध्याय

श्रद्धात्रयविभागयोग

[देव और असुर, इस प्रकार पुरुषोंमें भेद क्यों होता है ? इसका कारण प्रकृतिके गुण हैं जिनका गुणत्रयविभागमें दिग्दर्शन किया गया है। पर यह नहीं बतलाया कि स्वभाव, रुचि और श्रद्धामें जो भेद हुआ करता है और जिस भेदके कारण मनुष्य-लोक देव और असुर इन दो भागोंमें विभक्त हो जाता है, उस भेदका कारण इन्हीं तीन गुणोंसे बननेवाली मनुष्यकी यह श्रद्धा है जिसके अनुसार ही उसका जीवन गठित होता है। इसलिये इस श्रद्धाके प्रकारोंका वर्णन इस अध्यायमें किया जायगा।]

(१) अर्जुनने पूछा—जो लोग शास्त्रविधिको* छोड़कर पर

* शास्त्रविधि अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता प्रतिपादित योगशास्त्रका ज्ञानयुक्त—समत्व बुद्धियुक्त—कर्मविधान।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥
यजंते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥४॥

श्रद्धाके साथ यज्ञादि करते हैं, हे कृष्ण! उनकी स्थिति क्या है? (वह स्थिति) सात्त्विकी है अथवा राजसी या तामसी?

(२) श्रीकृष्णने कहा —मनुष्योंमें स्वभावसे ही तीन प्रकार की श्रद्धा होती है, सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उसका हाल सुनो।

(३) हे अर्जुन! सब किसीकी श्रद्धा अपनी अपनी प्रकृतिके स्वभावानुसार होती है। श्रद्धामय ही यह पुरुष होता है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह होता है।

(४) सात्विक लोग देवताओंको पूजते हैं, राजस लोग यक्ष-राक्षसोंकी पूजा करते हैं, और जो तामस प्रकृतिवाले हैं वे भूत-प्रेतोंकी पूजा करते हैं।

(जो मनुष्य जैसा होता है वह वैसे ही तत्वकी पूजा करता है।)

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यंते ये तपो जनाः।
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवांतःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥
आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः॥८॥

(५-६) जो लोग ऐसे कठोर तप*करते हैं, जिनका शास्त्रमें विधान नहीं है वे पाखंडी, अहंकारी, और गुलछर्रे उड़ानेवाले लोग हैं। इनमें बुद्धि नहीं होती। ये शरीरमें जो पंच महाभूत हैं उनको क्षीण करते हैं और उस शरीरमें जो परमात्मा है उसे भी कष्ट देते हैं। ऐसे लोगोंको अविवेकी और असुर समझना चाहिये।

(७) सबके आहार, यज्ञ, दान और तप भी तीन प्रकारके होते हैं। उनका भेद बतलाता हूं।

(८) सात्विक लोग आयु, सात्विकता, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाला रसीला, चिकना और रसरूपसे शरीरमें स्थिर रहनेवाला तथा मनको प्रसन्न करनेवाला भोजन पसंद करते हैं।

---

* तथा मौन रहना, कांटोंपर सोना, कीलोंपर बैठना, पेड़ोंमें लटकना, चारों ओर आग सुलगाकर बीचमें बैठना इत्यादि इसी मेलके तप हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥
अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥११॥
अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

(९) राजसी लोग तीता, खट्टा, खारा, गरमागरम, चरपटा, रूखा, पेटमें गरमी पैदा करनेवाला और इसी प्रकारका दुःख, शोक और रोग बढ़ानेवाला भोजन करना पसंद करते हैं।

(१०) तामसी लोगोंको ठंडा, बासी, नीरस, सड़ाबूसा, बहुत देरका रखा हुआ, जूठा और अपवित्र भोजन प्यारा लगता है।

(११) वह यज्ञ जो शास्त्रोंके अनुकूल हो और अवश्य कर्तव्य समझकर किसी फलकी इच्छासे नहीं बल्कि कर्तव्यके लिये ही शांतचित्तसे किया जाता है वह सात्विक यज्ञ है।

(उसी प्रकार कोई कार्य जो कर्तव्य समझकर किया जाता है वह सात्विक कार्य है।)

(१२) जो यज्ञ फलकी इच्छासे अथवा लोगोंको अपनी बड़ाई दिखानेके लिये किया जाता है वह राजसी यज्ञ है।

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

(१३) जो यज्ञ शास्त्रके विरुद्ध, विना अन्न अथवा बिना दक्षिणा दिये, विना मंत्र उच्चारण किये, और विना श्रद्धाके किया जाता है वह तामसी यज्ञ है।

(१४) देव, ब्राह्मण, गुरुजन, तथा विद्वानोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसाका आचरण शारीरिक तप कहाता है।

(१५) ऐसा भाषण करना जिससे किसीका दिल न दुखे और जो सत्य और प्रिय भी हो, तथा स्वाध्यायका अभ्यास वाचिक तप कहाता है।

(१६) मनको प्रसन्न रखना, सौम्य (प्रसन्न और शांत) रहना, फजूल न बोलना, मनको काबूमें रखना और मनमें पवित्र भाव रखना मानस तप कहाता है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥
दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

(१७) जब ये तीन प्रकारके तप परम श्रद्धाके साथ योगपूर्वक, फलकी इच्छा छोड़कर किये जाते हैं तब उनको सात्विक तप कहते हैं ।

(१८) जो तप अपने सत्कार, मान, बड़ाईके लिये ढोंगसे किया जाता है उस चंचल तपको राजस तप कहते हैं ।

(१९) जो तप हठ अथवा दुराग्रहसे, निजको कष्ट देकर अथवा दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है उसको तामस तप कहते हैं ।

(२०) जो दान काल और पात्र देखकर, कर्तव्य समझकर, न कि उसका बदला पानेकी इच्छासे, दिया जाता है उसको सात्विक दान कहते हैं ।

(२१) जो दान किसी उपकारके बदलेमें, या किसी फलकी

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥
ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

इच्छासे दिया जाता है; (अथवा) जिस दानके देनेमें (कृपणताके कारण चित्तको) दुःख होता है वह दान राजस दान है।

(२२) जो दान देश और कालका विचार न कर किसी नालायक आदमीको अनादर अथवा झिड़क करके दिया जाता है उसको तामस दान कहते हैं।

(२३) परब्रह्मका निर्देश ॐतत्सत् इन तीन तरहसे किया जाता है। इसीसे ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्माण हुए।

(२४) इसलिये ब्रह्मवादियोंके यज्ञ, तप, दान आदि शास्त्रोक्त कर्म ॐ इस शब्दके उच्चारणके साथ ही हुआ करते हैं।

(२५) तत्का उच्चारण करके फलकी इच्छा न रखकर मोक्ष चाहनेवाले लोग यज्ञ, दान, तपादि विविध कर्म करते हैं।

(२६) अस्तित्व और साधु भाव प्रकट करनेके लिये सत्

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम
सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

शब्दका प्रयोग होता है। मंगलकार्योंमें भी इस 'सत्' का उच्चारण होता है।

(२७) यज्ञ, दान और तपमें जो स्थिति है उसे सत् कहते हैं और इनके निमित्त जो कर्म किये जाते हैं उनको भी 'सत्' कहते हैं।

(२८) विना श्रद्धाके जो होम, दान, तप अथवा कोई भी कर्म है उसे असत् कहते हैं। हे पार्थ ! वह न इस लोकमें काम आता है न उस लोकमें।

["श्रद्धामयोऽयं पुरुषः—यो यच्छ्रद्धः स एव सः" मनुष्य मात्र अपनी स्वाभाविक प्रकृति या श्रद्धासे परिचालित होता है। उसके सब कर्म उसीसे संचालित होते हैं। प्रकृतिके तीन गुण हैं। इसलिये यह श्रद्धा भी तीन प्रकारकी है। पर यह प्रत्येक मनुष्यके हाथकी बात है कि वह अपनी इस श्रद्धाको चाहे तो बदल सकता है। जैसे तामसी श्रद्धावाले मनुष्यको तामस आहार ही प्रिय होता है। पर यदि किसी कारणसे उसको सात्विक

आहार मिले तो उसकी तामसी प्रकृति बदलकर सात्विक होने लग जाती है। "यादृशं भक्षयेच्चान्नं बुद्धिर्भवति तादृशी। दीप-स्तिमिरं भक्षयति कज्जलं च प्रसूयते"। मनुष्य जैसा अन्न भक्षण करता है वैसेही उसकी बुद्धि हो जाती है; जैसे दीप अन्धकार भक्षण कर कालिख उत्पन्न किया करता है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्में वर्णन है कि "आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः" अर्थात् आहार शुद्ध होनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है अर्थात् मनुष्य सात्विक बन जाता है और उसके सब कर्म भी सात्विक हो जाते हैं—मोक्ष दिलानेवाली दैवी संपत्ति फिर उसे प्राप्त हो सकती है। इसीलिये आसुरी प्रकृतिसे उद्धार पाकर दैवी प्रकृति प्राप्त करनेका मार्ग इस अध्यायमें श्रद्धात्रयविभाग करके बताया गया है।]

सतरहवां अध्याय समाप्त

अष्टादशोऽध्याय
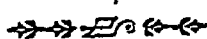
अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ॥१॥

अठारहवां अध्याय

मोक्षसंन्यासयोग

[इस अध्यायमें उन सब बातोंका तात्पर्य बतलाया जायगा जो पिछले अध्यायोंमें कही गयी हैं । पहले जो कुछ कहा गया है उसका हेतु उस "मोक्ष" की सिद्धिका साधन बतलाना है जो प्रत्येक मनुष्यका परम पुरुषार्थ है और उसका तात्पर्य भी यही है कि फलकी इच्छा छोड़कर ईश्वरार्पणबुद्धिसे सब कर्म करो । यह जो फलकी इच्छा छोड़ना है यही इस गीताशास्त्रमें संन्यास है । ऐसे संन्यासका जो विवेचन इसके पूर्व किया गया है उसीका सारांश इस अध्यायमें बताना है । इसलिये इस अध्यायका नाम "मोक्षसंन्यासयोग" (अर्थात् जिस प्रकारके संन्याससे मोक्षप्राप्ति होती है वह संन्यास) रखा गया है । रणभूमिमें अर्जुनको जिस प्रकारका संन्यास ग्रहण करनेकी

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणः ॥२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

इच्छा हुई थी वह यह संन्यास नहीं है। वह सब कर्म परित्याग कर दुःखसे छूटना चाहता था। योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवानने उसे कर्मफलके त्यागरूप संन्यासका उपदेश दिया, कर्मत्यागका नहीं और इस अध्यायमें सर्वप्रथम अर्जुनके द्वारा इन्हीं दो प्रकारके संन्यासोंमें तत्वतः क्या भेद है यह प्रश्न उपस्थित किया गया है और इसीके उत्तरमें गीताके पूर्वाध्यायोंका उपसंहार किया गया है।]

(१) अर्जुनने कहा—हे हृषीकेश! हे विशाल भुजावाले कृष्ण! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास और त्यागका तत्व अलग अलग समझना चाहता हूं।

(२) श्रीकृष्णने कहा—पण्डित लोग काम्यकर्मोंके (स्वर्ग ऐश्वर्य आदिकी इच्छासे किये जानेवाले कर्मोंके) छोड़ देनेको संन्यास कहते हैं। बुद्धिमान् लोग सब कर्मोंके फलोंको त्याग देना ही त्याग समझते हैं।

(३) कुछ पण्डित लोग कर्मोंको दोषपूर्ण समझते हुए

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

छोड़ देना ही अच्छा समझते हैं। और कुछ लोग यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंको न छोड़ना ही उचित मानते हैं।

(४) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन! उस त्यागके विषयमें मेरा निश्चय सुनो। त्याग तीन प्रकारका बतलाया गया है।

(५) यज्ञ, दान और तप इन कर्मोंका कदापि त्याग न करना चाहिये। ये कर्म करने ही योग्य हैं, क्योंकि पण्डितोंके लिये भी ये पावन करनेवाले हैं।

(६) इसलिये ये कर्म भी संग और फलको छोड़कर अवश्य कर्त्तव्य हैं। इस प्रकार यह मेरा निश्चित मत है और (यही) उत्तम है।

(७) नियत कर्मोंका त्याग ठीक नहीं है। मोहवश यदि कोई इनका त्याग करे तो वह त्याग तामस त्याग कहाता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ॥९॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥
नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

(८) शरीरको कष्ट होते हैं इसलिये अथवा शरीरको क्लेश होनेके भयसे कर्मोंका जो त्याग किया जाता है वह राजस त्याग है। उससे त्यागका जो फल है वह नहीं मिलता।

(९) संग और फलको छोड़ कर्त्तव्य समझकर जब नियत कर्म किया जाता है तो वह (संग और फलका) त्याग ही सात्विक त्याग है।

(१०) त्यागी जो है वह अकुशल कर्मका द्वेष नहीं करता न कुशल कर्ममें आसक्त होता है। ऐसा त्यागी सत्वशील, बुद्धिमान् और सन्देहरहित होता है।

(११) देह धारण करनेवाले जीवके लिये यह कदापि सम्भव नहीं है कि वह कर्म करना बिलकुल छोड़ दे; इसलिये जो पुरुष कर्म करता हुआ उसके फलाफलको छोड़ देता है वही त्यागी है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥
पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वं । पंचेते तस्य हेतवः ॥१५॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

(१२) कर्मोंके फल तीन प्रकारके होते हैं—अनिष्ट, इष्ट और मिश्र। जो लोग फलकी इच्छा नहीं छोड़ते उन्हें इन फलोंको इस जन्मके बाद भोगना पड़ता है; परन्तु संन्यासी त्यागीके लिये कोई भोग नहीं है।

(१३-१४) हे अर्जुन! अब सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये आवश्यक उन पांच कारणोंको सुनो जिनका वर्णन सांख्य-शास्त्रमें हो चुका है। वे पांच कारण ये हैं—अधिष्ठान (स्थान), कर्ता, करण (साधन), नाना प्रकारकी चेष्टाएं और दैव।

(१५) मनुष्य अपने शरीर, वाणी और मनसे जो कोई कार्य करे वह कार्य अच्छा हो या बुरा, उसके ये ही पांच कारण हैं।

(१६) ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य असंस्कृत बुद्धिके कारण

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निवध्यते ॥१७॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तँ विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥२०॥

अकेले अपने आपको ही सब कुछ करनेवाला समझता है वह दुर्मति कुछ नहीं समझता ।

(१७) जिसमें अहंकारभाव नहीं है (अर्थात् जो यह नहीं समझता कि मैं यह कर्म कर रहा हूं) और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं है, वह इन लोगोंको मारकर भी नहीं मारता और न इससे उसे बन्धन ही होता है ।

(१८) ज्ञान, ज्ञानका विषय और ज्ञाता इन तीन बातोंसे ही कर्ममें प्रवृत्ति हुआ करती है । कर्मके साधन भी तीन हैं—करण, कर्म और कर्ता ।

(१९) सांख्य-शास्त्रमें ज्ञान, कर्म और कर्ता भी तीन तरहके लिखे गये हैं । उनको ज्योंके त्यों सुनो ।

(२०) जिस ज्ञानको प्राप्तकर पुरुष इन सब पृथक् भूतोंमें एक ही अविभक्त अव्ययभाव देखता है वह ज्ञान सात्विक ज्ञान है ।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥
नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥
अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥२५॥

(२१) जिस ज्ञानसे सब भूतोंमें—भिन्न भिन्न प्राणियोंमें भिन्न भिन्न भाव दिखायी देते हैं वह राजस ज्ञान है ।

(२२) जिस ज्ञानसे पुरुष बिना कारण और बिना तत्वको जाने एक ही वस्तुमें आसक्त हो जाता है—उसी वस्तुको अपना सर्वस्व समझ लेता है, वह अल्प ज्ञान तामस ज्ञान है ।

(अब कर्मोंके तीन भेद सुनिये—)

(२३) सात्विक कर्म वह नियत कर्म है जो राग तथा द्वेष छोड़ फलकी इच्छा त्यागकर किया जाय ।

(२४) राजस कर्म वह है जो किसी फलकी इच्छासे और अहंकारयुक्त होकर बड़े परिश्रमसे किया जाय ।

(२५) तामस कर्म वह है जो मोहवश भले बुरे परिणामका,

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

तथा यह काम करनेसे किसीका कुछ नुकसान तो नहीं है-इससे किसीको हानि तो नहीं पहुंचती—मैं यह कार्य्य करनेमें समर्थ हूं या नहीं—इन बातोंका, विचार न करके किया जाय।

(कर्ताके तीन भेद—)

(२६) जिसका मन (कर्मफलमें) अटका हुआ नहीं है, जो अहंभावसे रहित है, धैर्य और उत्साह जिसमें भरपूर है, सिद्धि असिद्धिसे जिसमें कोई विकार नहीं उत्पन्न होता वही कर्ता सात्विक है।

(२७) जो कर्ता विषयोंसे प्रीति रखता हो, उसका फल पानेके लिये तरसता हो, लालची, हिंसा करनेवाला, अपवित्र और सुख दुःखमें फंसनेवाला हो उसे राजस कर्ता कहते हैं।

(२८) जो अस्थिरचित्त है, शरीरसुखको ही सुख मानता है, गर्वके मारे फूला रहता है, शठ है (दूसरोंको धोखा देता और ठगता है), दूसरोंकी वृत्ति छेदन करता है, आलसी है, सदा अप्रसन्न रहता है और जरासे काममें ही सारा समय नष्ट कर देता है वह तामसी कर्ता कहलाता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥
धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

(२९) बुद्धि और धृतिके भी गुणोंके अनुसार तीन भेद हैं। उनका भी अलग अलग विस्तारपूर्वक वर्णन सुनाता हूं, सुनो।

(३०) प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बंधन और मोक्षको जो बुद्धि जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है।

(३१) जिस बुद्धिसे धर्म क्या है और अधर्म क्या है, यह ठीक ठीक नहीं जान पड़ता वह राजसी बुद्धि है।

(३२) अंधकारमें फंसी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती और सब बातोंको उनके विपरीत रूपमें ही देखती है वह बुद्धि तामसी बुद्धि है।

(३३) जिस अविचल धृतिसे पुरुष अपने मन, प्राण और

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

इन्द्रियोंके व्यापार योगपूर्वक धारण करता है वह सात्विक-धृति है।

(३४) जिस धृतिसे प्रसंगानुसार फल पानेकी इच्छा रखनेवाला पुरुष धर्म, अर्थ और काम (तीन पुरुषार्थों को) सिद्ध कर लेता है वह राजसी धृति है।

(३५) जिस धृतिको रखकर कोई दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद नहीं छोड़ता वह तामसी धृति है।

(तीन प्रकारके सुख—)

(३६–३७) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अब तीन प्रकारका सुख भी सुन लो। एक वह सुख है जो (योगके) अभ्याससे मिलता है और जिससे सारे क्लेश दूर हो जाते हैं। आरंभमें तो वह सुख जहरका प्याला मालूम होता है पर अन्तमें वही अमृतका काम करता है। (इस प्रकार) आत्मनिष्ठ बुद्धिके

विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

प्रसादसे जो सुख होता है वह सात्विक सुख है ।

(३८) विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुखलाभ होता है, जो आरंभमें तो अमृतके समान पर परिणाममें विषके समान होता है वह राजस सुख है ।

(३९) जो सुख आरंभसे अन्ततक मनुष्यको भ्रममें फंसाये रहता है, जो निद्रा, आलस्य और प्रमादसे मिलता है वह तामस सुख है ।

(४०) इस संसारमें, अथवा देवताओंके देवलोकमें ऐसी कोई वस्तु नहीं जो इन तीन गुणोंसे मुक्त हो ।

(इन्हीं तीन गुणोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका नामाभिधान हुआ है ।)

(४१) हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंके स्वाभाविक गुणोंके अनुसार ही उनके कर्म बटे हुए हैं ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥४५॥

(४२) मनको शुद्ध रखना, इन्द्रियोंको विषयोंसे खींचना, तप,* शरीर और मनको पवित्र रखना, क्षमा करना, सरलता, अध्यात्मज्ञान, अनुभवसिद्ध ज्ञान और आस्तिकता, ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

(४३) क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म ये हैं—वीरता, तेजस्विता, धीरता, दक्षता और युद्धमें पीठ न दिखाना, (दीनोंको) दान देना और प्रजाकी रक्षा करना।

(४४) खेती करना, गौकी रक्षा करना और वाणिज्य व्यापार करना वैश्यका स्वाभाविक कर्म है, और (इसी प्रकार) सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है।

(४५) अपने अपने कर्मोंमें लगे रहनेसे ही मनुष्यको सिद्धि

* सत्रहवें अध्यायके १४, १५, १६ और १७ वें श्लोकमें शारीर, वाङ्मय और मानसिक तथा सात्विक तपका वर्णन है। उसी तपसे यहां मतलब है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥४६॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥४७॥
सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥
असक्तबुद्धिःसर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

प्राप्त होती है। अपने कर्ममें लगे रहनेसे किस प्रकार सिद्धि प्राप्त होती है उसका हाल सुनो।

(४६) जिससे इस सारे संसारकी प्रवृत्ति हुई और जो इसमें सर्वत्र व्याप्त है, उसकी स्वकर्मद्वारा पूजा करनेसे मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।[१]

(४७) अपने धर्ममें चाहे कोई दोष भी दिखायी दे तो भी वह दूसरेके सुखपूर्वक साधने योग्य धर्मसे अच्छा है। अपना स्वाभाविक कर्म करनेसे मनुष्य पापका भागी नहीं होता।

(४८) अपना जो स्वाभाविक कर्म है उसमें दोष होनेपर भी उसे न छोड़ना चाहिये, क्योंकि सभी कर्म धूमसे अग्निके समान दोषोंसे घिरे रहते हैं।

(४९) जिसकी बुद्धि किसी वस्तुमें नहीं अटकती, जो अपने

१- यहां अपना कर्तव्य पालन करनेको ही ईश्वरकी पूजा कहा है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

मनको जीत चुका, जिसकी सारी इच्छाएं नष्ट हो गयी हैं, वह संन्यास[1] से परम नैष्कर्म्यसिद्धि[2] प्राप्त करता है।

(५०) अब हे कुन्तिनन्दन! मैं यह भी संक्षेपसे बतला देता हूं कि किस तरह इस सिद्धिको प्राप्त हुआ मनुष्य उस ब्रह्मको प्राप्त करता है जो ज्ञानकी अत्यंत श्रेष्ठ अवस्था है।

(५१–५३) शुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर, धृति (आत्मिक बलसे) मनको वशमें कर, शब्दादि विषयोंको छोड़, रागद्वेषको परित्याग करके एकान्तमें बैठनेवाला, नियमित भोजन करनेवाला, शरीर, वाणी और मनको जीते हुए, सदा ध्यान रतमें रहनेवाला, वैराग्य धारण किये हुआ पुरुष अहंकार, बल, दर्प, काम और भोगके साधन छोड़कर निर्मम और शांत होता हुआ ब्रह्मत्व प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

---

१ संन्याससे यहां फलकी इच्छाका त्याग या काम्य कर्मका त्याग समझना चाहिये।
२ निष्कर्मसिद्धि अर्थात् सिद्धिकी वह अवस्था जिसमें कर्मका कोई बंधन नहीं होता।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते . पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥
मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

(५४) ब्रह्मत्व प्राप्त करनेवाला प्रसन्नचित्त पुरुष न कभी दुखी होता है न किसी बातकी इच्छा करता । समस्त प्राणियोंको समदृष्टिसे देखता हुआ वह मेरी पराभक्ति प्राप्त करता है।

(५५) भक्तिसे वह पुरुष तत्वतः जान लेता है कि मैं कहांसे कहांतक हूं और कौन हूं। इस प्रकार तत्वतः जानकर वह मुझमें ही प्रवेश करता है।

(५६) और मेरा ही आश्रयकर सब कामोंको करता हुआ भी मेरे प्रसादसे शाश्वत अव्यय पदको प्राप्त करता है।

(५७) मनसे सबकर्मोंको मुझे अर्पण कर, मेरा ही ध्यान करते हुए बुद्धियोगके सहारे सदा मच्चित्त होकर (अर्थात् मेरे चित्तमें ही अपना चित्त मिलाये) रहो।

(५८) मच्चित्त होनेसे सब विघ्नोंको तुम पार कर जाओगे, पर यदि अहंकारवश न मानोगे तो तुम नष्ट हो जाओगे।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥
स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

(५९) अहंकारके वशमें होकर यदि तुम यही मनमें विचारोगे कि मैं युद्ध न करूंगा तो यह तुम्हारा प्रयत्न मिथ्या है, प्रकृति तुम्हें उसमें लगावेगी।

(६०) हे कुन्तिपुत्र ! तुम अपने स्वभाव-कर्मसे बंधे हुए हो। मोहसे जो कर्म तुम नहीं करना चाहते हो वह तुम्हें विवश होकर करना पड़ेगा।

(६१) हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें रहता है और अपनी मायासे (संसारचक्ररूप) यन्त्रपर चढ़े हुए सब प्राणियोंको घुमाता रहता है।

(६२) अनन्य भावसे तुम उसीकी शरण ले लो, उसीकी कृपासे तुम्हें उत्तम शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त होगा।

(६३) यह तुम्हें मैंने गुह्यसे गुह्य ज्ञान बताया है इसको

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

अच्छी तरह विचारो और फिर जो तुम्हारी इच्छा हो, करो ।

(६४) अब सबसे जो गुह्य बात है वह मैं तुमसे फिर कहता हूं । सुनो, तुम मेरे बहुत प्यारे हो, इसलिये मैं तुम्हारे हितकी बात कहता हूं ।

(६५) अपना मन मेरी तरफ लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, मैं तुमसे सत्य ही प्रतिज्ञा करता हूं कि तुम मुझे ही प्राप्त करोगे ; क्योंकि तुम मेरे प्यारे हो ।

(६६) सब धर्मोंको छोड़ एक मेरी शरण लो, तुम्हें मैं सब पापोंसे मुक्त करूंगा, कोई शोक मत करो ।

(६७) यह जो कुछ[1] तुम्हें मैंने बतलाया है वह कदापि किसी ऐसे मनुष्यसे न कहना जो तपस्वी न हो, जो ईश्वरका भक्त न हो, (और) जो सुनना न चाहता हो, या जो मेरी निन्दा करता हो ।

१ गीताशास्त्र ।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

(६८) इस परम गुह्य ज्ञान का जो पुरुष मेरे भक्तोंमें प्रचार करेगा वह मेरी परा भक्तिको प्राप्त होकर निश्चय ही मुझमें आ मिलेगा।

(६९) मनुष्योंमें कोई भी इससे बढ़कर प्रिय कार्य मेरे लिये नहीं कर सकता और मुझे भी इस लोकमें उससे बढ़कर प्रिय और कोई नहीं हो सकता।

(७०) हम दोनोंके इस धर्म-संवादका जो मनुष्य अध्ययन करेगा, मैं समझूँगा कि उसने ज्ञानयज्ञसे मेरी पूजा की है।

(७१) जो श्रद्धावान् पुरुष दोषबुद्धि त्यागकर यह गीता-शास्त्र सुनेगा वह भी मुक्त होगा और पुण्यात्माओंके पुण्यलोकमें स्थान पावेगा।

(७२) हे पार्थ ! क्या तुमने एकाग्रचित्त होकर इस (गीता-

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

शास्त्र) को श्रवण किया ? और क्या तुम्हारा अज्ञानसे पैदा हुआ मोह नष्ट हो गया ?

(७३) अर्जुनने कहा—हे अच्युत ! मेरा मोह नष्ट हो गया, आपकी कृपासे मुझे धर्मकी स्मृति हो गयी । अब मुझे कोई सन्देह न रहा । आप जो कहते हैं, वही करूंगा ।

(७४) संजयने कहा—श्रीकृष्ण वासुदेव और महात्मा पार्थका यह अद्भुत और रोमांचित करनेवाला संवाद मैंने सुना ।

(७५) साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्णके मुखसे यह परम गुह्य योग मैंने व्यासजीकी कृपासे सुन लिया ।

(७६) हे राजन् ! श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस अद्भुत और पुण्य उपदेशका बारबार स्मरण करके बड़ा ही हर्ष होता है

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम
अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

(७७) और हे पृथ्वीनाथ ! श्रीकृष्ण भगवानका वह बड़ा अद्भुत रूप भी बारबार नेत्रोंके सामने आता है जिससे बड़ा आश्चर्य और हर्ष होता है ।

(गीताशास्त्र आरम्भसे अन्ततक सुनकर और श्रीकृष्ण तथा अर्जुनकी पहचान।संजय अपना यह मत प्रकट करते हैं—)

(७८) जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्द्धर पार्थ होंगे, वहीं श्री, विजय, सकल ऐश्वर्य और ध्रुवनीति होगी।

[संन्यास शब्दसे जहांतक कर्मसंन्यासका अर्थ लिया जाता है वहांतक, श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं कि, वह काम्य कर्मोंका न्यास (त्याग) है—नियत कर्मोंका नहीं। प्राचीन कालमें स्वर्गादि ऐश्वर्यकी इच्छासे पशुहिंसामूलक नाना प्रकारके यज्ञयागादि किये जाते थे और यह समझा जाता था कि इस अनुष्ठानसे अमुक स्वर्ग अथवा सांसारिक सुखकी प्राप्ति होगी।

अब उस प्रकारके यज्ञयागादि नहीं होते, पर ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये अनेक प्रकारके ऐसे भयानक खटाटोप किये जाते हैं, जिनसे कृमिकीटोंसे लेकर करोड़ों मनुष्यप्राणियोंकी भी हिंसा होती है। ये सब काम्य कर्म हैं और मोक्षके बाधक हैं। इसलिये ऐसे कर्मोंके त्यागका विधान है। यही संन्यासका तत्व है। परन्तु मनुष्यके जो नियत कर्म हैं उनका त्याग ठीक नहीं है। यज्ञ (फलाशारहित लोकसंग्राहक कर्म), दान और तप आदि कर्मोंका त्याग भी ठीक नहीं है। ये सब कर्म अवश्य कर्तव्य हैं। परन्तु ये कर्म तो सभी लोग किसी न किसी रूपमें किया करते हैं। पर सब लोग जिस बुद्धि और धृतिसे कर्म करते हैं, मुमुक्षुको स्वकर्म साधनमें उससे भिन्न बुद्धि और धृति रखनी पड़ती है। यह कर्मभूमि है और यहां सभी कर्मी हैं; पर उन कर्मियोंके कर्म उस कर्मकी बुद्धिके भेदसे भिन्न भिन्न हो जाते हैं और आकाश पातालका अन्तर होता है। प्रकृतिके तीन गुणोंमेंसे जिस गुणके वशमें होकर मनुष्य कर्म करता है उसका वह कर्म भी उसी गुणसे युक्त होता है और उसका वैसाही फल भी मनुष्यको भोगना पड़ता है, पर जो सात्विक गुणसे युक्त होकर फलाशा त्यागकर कर्म करता हैं उसके लिये कोई भोग नहीं, कोई बन्धन नहीं है, वह सदा आनन्दमें हो स्थित है (१-१२)। ऐसे सात्विक गुणसे युक्त होकर फलाशात्याग-पूर्वक कर्म करनेके लिये उसे इस बातका ज्ञान होना चाहिये कि, "मैं कर्ता नहीं हूं"—यह सब प्रकृति करती है। ऐसी

जिसकी बुद्धि हो गयी वह कर्म करके भी कर्मके बन्धनसे मुक्त है। उसकी निर्मम बुद्धिसे उसे सर्वत्र "सब पृथक् पृथक् भूतोंमें एक ही अविभक्त अव्यय" के दर्शन होते हैं। वह रागद्वेष छोड़कर, फलकी इच्छा त्याग अपना स्वभावसिद्ध कर्म करता है। उसका मन कर्मफलमें नहीं अटका रहता, इसलिये उसका चित्त शुद्ध और निर्विकार होता है। उसे कर्तव्याकर्तव्यका मोह नहीं होता, क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध सात्विक हो जाती है। वह अपने मन, प्राणों और इन्द्रियोंको अपने वशमें रख सकता है, उसे वह सुख प्राप्त होता है जिससे सारे बन्धन कट जाते हैं और अक्षय सुख मिलता है। ये सात्विक पुरुषके लक्षण हैं। इसके विपरीत राजसी और तामसी पुरुषोंके लक्षण हैं। पर पुरुष स्वतः मुक्त है। ये लक्षण सत्व, रज, तम इन गुणोंके हैं (१३-३६)।

[संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं जो इन गुणोंसे मुक्त हो। इन्हीं गुणोंके अनुसार सबके स्वभावसिद्ध कर्म हैं और उन कर्मोंका ईश्वरप्रीत्यर्थ पालन करनेसे सभी मुक्त हो सकते हैं यही गीताका सिद्धान्त है। यदि कोई पुरुष स्वभावसिद्ध कर्म न करे तो प्रकृति उससे यह कर्म जबर्दस्ती करावेगी। प्रकृतिका धर्म ही कर्म करना है और जहां जिस गुणका प्राधान्य है वहां उसी गुणके अनुसार कर्म नियत हैं। चारों वर्णोंके कर्म इसी प्रकार बंधे हुए हैं और कर्म करना प्रकृतिका धर्म होनेसे उस प्रकृतिसे जो कर्म नियत है उस कर्मको हीन समझ-

कर त्याग देना भूतप्रकृतिमोक्षका मार्ग नहीं है प्रत्युत उस कर्मको ही ईश्वरकी उपासना समझकर भक्तिपूर्वक उसका पालन करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है। इसीसे मनुष्यकी प्राकृतिक बुद्धि सुसंस्कृत होती और वह अभ्यास करते करते अन्तमें ब्रह्मत्व लाभ करनेमें समर्थ होता है। इसलिये चाहे जो जिसका नियत कर्म हो, उसका पालन करना ही उसके लिये श्रेय है। कर्मके भेदसे श्रेयप्राप्तिमें कुछ भेद नहीं होता। सिद्धि-असिद्धि, मोक्ष या बन्धन कर्मसे नहीं होता प्रत्युत जिस बुद्धिसे कर्म किया जाता है उससे यह भेद हुआ करता है। कर्म कोई भी हो, यदि वह भगवानकी सेवा के रूपमें किया जाय तो उससे उसे ज्ञान प्राप्त होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभावकर्मसे बंधा हुआ है—उसे वह कर्म करना पड़ेगा। यह ईश्वरकी माया है और सब प्राणी उस मायाचक्रपर चढ़े हुए हैं। चक्र जिधर घूमेगा उधर उन्हें जाना ही पड़ेगा। जबतक मनुष्य अपनी जीव-दशामें है तबतक वह प्रकृतिके गुणोंसे बद्ध है और इस बन्धनसे मोक्ष पानेका उपाय अनन्य भावसे ईश्वरकी शरण लेना ही है। इसलिये स्वभावनियत कर्मको ईश्वरकी आज्ञा समझकर उसका पालन करो। सब धर्माधर्म विचार छोड़ ईश्वरकी शरण लो क्योंकि इसके बिना धर्माधर्मका ज्ञान कहां? (४०—६६)

[इस प्रकार यहांतक परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये संन्यास, त्याग, कर्मका कारण, कर्ताका स्वरूप, नियत कर्मका रहस्य बताकर स्वकर्मद्वारा ही ईश्वरोपासना करनेका उपदेश दिया और

अन्तमें यह परम गुह्य ज्ञान बतलाया कि ईश्वरकी शरण लो, क्योंकि शरण लिये बिना चित्त शुद्ध ही नहीं हो सकता। संपूर्ण गीताके विवेच्य विषयके अन्तमें यह ईश्वरशरणोपदेश आया है। इसलिये बहुतसे लोग इसी उपदेशको गीताका तात्पर्य समझते हैं। हां, इस अर्थमें यह तात्पर्य है कि यही गीताशास्त्रका मूलमन्त्र है। यहींसे गीताका आरम्भ होता है और समग्र गीता पढ़ जानेके पश्चात् यही मालूम होता है कि इस गागरमें ज्ञानका जो अथाह सागर भरा हुआ है उसके भीतरके अनन्त रत्नोंका पता लगानेका यही मूलसूत्र है। इस सूत्रके बिना गीताशास्त्र कुछ भी समझमें नहीं आता। अर्जुन रणभूमिमें अपने भाई और सगे सम्बन्धियोंकी भावी मृत्युके भीषण रूपसे घबराकर अपने स्वभावनियत कर्मसे छूटना चाहता था, उस समय उसको इस गीताशास्त्रका ज्ञान नहीं बताया गया। उस समय उसकी राजसी वृत्तिको ही श्रीकृष्णने उभारा। पर जब अर्जुनने कहा कि—"मोहसे मेरा स्वभाव दूषित हो गया है और धर्म क्या है यह समझमें नहीं आता; इसलिये आपसे पूछता हूं। जिसमें निश्चय रूपसे मेरा श्रेय हो वही बतलाइये, मैं आपका शिष्य हूं, आपकी शरणमें हूं, मुझे शिक्षा दीजिये।" (अ० २ श्लोक ८) तब उसे गीताशास्त्र सुननेका अधिकार हुआ और "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" इत्यादिसे आरम्भ करके भगवानने आगे उपदेश दिया है। और इस प्रकार जो कोई शरणमें आकर गीताका अध्ययन करता है उसीको गीताका

अध्ययनाधिकार प्राप्त होता है। हमारे मतसे गीताका सम्पूर्ण तात्पर्य बतलानेवाला श्लोक इस अध्यायका ४६ वां श्लोक है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥

"जिससे इस सारे संसारकी प्रवृत्ति हुई और जो इसमें सर्वत्र व्याप्त है उसकी स्वकर्म द्वारा पूजा करनेसे मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।" इसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनोंका पूर्ण सम्मेलन हुआ है और ज्ञानपूत भक्तियुक्त कर्म ही गीताके उपदेशका सार है। परन्तु ऐसा कर्म वही कर सकता है जो अनन्य भावसे ईश्वरकी शरण ले।

[इसके आगे गीताकार यह बतलाते हैं कि जो ईश्वरकी शरणमें नहीं है उसे इस शास्त्रके अध्ययनका अधिकार नहीं है। पर जो ईश्वरभक्त हैं उनके प्रति इस शास्त्रके अध्ययन करनेवाले-का यही परम पवित्र कर्तव्य है कि वह उनमें इस ज्ञानका प्रचार करे। जिस ज्ञानसे अर्जुनका मोह नष्ट हुआ, धर्मकी स्मृति जागरित हो उठी और वह निश्चिन्त होकर भगवद्वचनका पालन करनेको तैयार हुआ (६७—७३) उस ज्ञानमें—संजयको रोमांचित करनेवाले उस श्रीकृष्ण और महात्मा पार्थके इस अद्भुत संवादमें—आज भी यह सामर्थ्य है कि सब प्रकारसे दुखी, दीन और दुर्बल जनोंमें आशा, बल और उत्साहका संचार कर दे, मोह नष्ट कर दे और ज्ञाननेत्र खोल दे। अद्भुत सामर्थ्य है,

प्रत्येक श्लोकमें अद्भुत मन्त्रशक्ति है। यह तो सच है ही कि "जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण होंगे और धनुर्धर पार्थ होंगे वहीं श्री, विजय, सकल ऐश्वर्य और ध्रुव नीति होगी।" पर यह भी उतना ही सच है कि जहां यह गीता होगी वहां श्रीकृष्ण और अर्जुन भी होंगे।]

अठारहवां अध्याय समाप्त

परिशिष्ट

गीताका व्यावहारिक उपयोग

—:o:—

(पर्व संस्करणके अंतिम उद्गार)

श्रीमद्भगवद्गीता तत्वज्ञानका ग्रन्थ है। इसमें शरीर और जीवात्मा, विश्व और विश्वात्मा, अज्ञान और ज्ञान, दुःख और सुखका वास्तविक भेद दिखलाकर सच्चे सुखकी प्राप्ति, श्रेष्ठ ज्ञानका उपार्ज्जन, परमात्माके दर्शन, और आत्मानुभव करनेका उपाय बतलाया है।

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्।
आयु रक्षति मर्माणि आयुरन्नं प्रयच्छति॥

जबतक दममें दम है तबतक शत्रुको पीठ न दिखाऊंगा और किसीके सामने हाथ न पसारूंगा, क्योंकि आयु ही प्राणोंकी रक्षा करती है और आयु ही अन्न देती है। अर्जुनका यह कौल था, पर कौरवोंका सेनाव्यूह देखकर उसका जी घबरा गया। यह क्यों? क्या अर्जुन डर गया? नहीं, अर्जुन शत्रुओंकी विशाल सेनाके उग्र रूपसे भयभीत नहीं हुआ, पर अपने कर्तव्यपालनसे डर गया। उसने सोचा कि यदि मैं युद्ध करूंगा तो मेरे ये गुरुजन मारे जायंगे—मेरे मित्र मुझसे जुदा

होंगे और भारतभूमिसे क्षत्रियवंश नष्ट हो जायगा—पतिहीन कुल स्त्रियोंसे अधर्म फैलकर कुरूप, कुरंग और कुशील सन्तानोंकी जड़ जमा देगा !

यह मोह दूर करनेके लिये श्रीकृष्ण भगवानने आत्माका अमरत्व समझाया है। हम, आप और ये लड़नेवाले वीर योद्धा क्या ऐसे ही हैं जैसे दिखायी देते हैं ? हम क्या हैं ? हमारे हाथ, पैर, शिर, नाक, कान, पेट 'हम' नहीं हैं ! किसी मनुष्यका हाथ कट जानेसे वह मनुष्य नहीं कट जाता। उसी प्रकार किसीकी गर्दन उड़ जानेसे कोई मर नहीं मिटता। शरीर एक तरहका कपड़ा है जो फटनेपर या पुराना होनेपर हम फेंक देते हैं और नया धारण कर लेते हैं। मरता कौन है ? हम तुम नहीं मरते, मरता है शरीर, इसलिये श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं कि किसीके मरनेपर शोक मत करो—अपना कर्तव्य किये जाओ। इसके अतिरिक्त जो पदार्थ मरता है वह जीता भी है और जो जीता है वह मर भी जाता है। फिर शोक करनेकी बात ही क्या है ? क्षत्रिय-धर्म, वर्णव्यवस्थाके अनुसार अपने देशकी परापहारी शत्रुओंसे रक्षा करना और उद्दंडको दंड देना है। (अपना धर्म पालन करना ही इहजीवनकी इतिकर्तव्यता है।) शोक अथवा मोहको मनसे भगाकर एक कर्तव्यपर ही दृष्टिको स्थिर कर, उस कर्तव्यमें लग जाना ही पुरुषार्थ है। उसमें चाहे मृत्यु हो जाय—मृत्यु हुई तो स्वर्गका द्वार खुला है और जीत हुई तो भी कीर्त्ति और श्रीसमृद्धि हाथ जोड़े खड़ी हैं। परन्तु स्वर्गप्राप्ति अथवा कीर्त्तिके

लिये कर्तव्य करना ठीक नहीं ; क्योंकि फलकी इच्छासे जब मनुष्य कार्य करता है तब वह इच्छा उसे धर दबाती है। इसलिये योगपूर्वक कर्म करना चाहिये।

* * *

'योग' शब्दका अर्थ है 'मेल'। जिस योगसे परमात्माके साथ संयोग होता है वही योग है। योगसे बढ़कर संसारमें दूसरी शक्ति नहीं है। योगसे मनुष्य बुद्धिमान् और पराक्रमी होता है। योगसे मनुष्य बलिष्ठ, नीरोग और सुन्दर होता है। योग वह शक्ति है जिससे परमात्माके दुर्लभ दर्शन सुलभ हो जाते हैं। परन्तु यह बड़े अभ्यासका काम है। सबसे पहले मनको एकाग्र करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। शरीरको नींद द्वारा विश्राम देनेके कार्यसे लेकर घमासान युद्धमें हाथ, पैर, आंख, कान आदि शरीरके सारे अवयवोंको फुर्तीसे काममें लानेके कार्यतक जितने छोटे बड़े कार्य हैं उनमेंसे जो कोई कार्य आप चाहे किसी वक्त करते हों उस कार्यमें उस वक्ततक आपका मन इस तरह युक्त होना या मिल जाना चाहिये कि आपको यह न मालूम पड़े कि यह कार्य और आप कोई दो भिन्न भिन्न वस्तुएं हैं—कार्य और कर्तामें भेद ही न रह जाय। यही योग है और इसी योगपद्धतिसे जो लोग परमात्माका ध्यान करते हैं वे परमात्माको सचमुच पा जाते हैं फिर संसारकी कोई बात पाना क्या कठिन है ?

जिन लोगोंको आरामतलबीकी आदत पड़ी हुई है उनके लिये यह जरा टेढ़ी खीर है ; क्योंकि आरामतलब वे ही लोग होते हैं

जो मनकी मुसाहिबीमें लगे रहते हैं—वे मनको अपना मुसाहिब बनाना नहीं जानते। वे कोई सद्ग्रन्थ पढ़ते भी हैं तो उनका मन दूसरी ओर लगा रहनेसे उन्हें उन सद्ग्रन्थोंमें भी प्रकाशके बदले मायामोहका अंधकार दिखायी देता है। वे लोग न इहलोक बना सकते हैं न परलोक ही। परमात्मा तो त्रिगुणातीत है—सत्व, रज, अथवा तमके फन्देमें फंसनेवाला नहीं है। उसके साथ ऐसे लोगोंका संयोग होना दूर रहा—वे संसारके सामान्य पुरुषार्थ करनेमें ही असमर्थ होते हैं। जिन्हें सृष्टिकी अद्भुत लीलाका रहस्य जानना है उन्हें पहले यह जानना चाहिये कि परमात्माके पास पहुंचनेके लिये परमात्माके समान होनेका अभ्यास करना पड़ता है।

यह अभ्यास वे लोग नहीं करते जो 'खाओ, पीओ और मौज करो, इस मतके माननेवाले हैं। ऐसे मतवाले लोग दो तरहके होते हैं। एक तो वे जो बापका कमाया धन फूंककर अन्तमें तबाह होते हैं और दूसरे वे जिनके पास बापकी कमाई तो नहीं हैं पर अगर मिले तो उड़ानेमें कसर न करें। ऐसे लोग मनके लड्डू ही खाते रहते हैं। एक आदमीने थोड़ेसे रुपये खर्च कर कांचके बरतन खरीदे और उन कांचके बरतनोंपर बड़ा भारी व्यवसाय चलाना चाहा। अपने मनमें वह अपनी भावी संपत्तिपर विचार करने लगा। उसने सोचा कि इतने दिनोंमें मेरे पास इतने लाख रुपये जमा हो जायंगे। मारे शेखीके वह फूल उठा और मनोराज्यके नशेमें चूर होकर कल्पनातरंगमें अपनी स्त्रीपर

ही क्रोधित हो उसने कांचके बरतनोंपर लात मार दी। बस, फिर क्या था—सब बर्तन फूट गये और सारी आशा मिट्टीमें मिल गयी! इसीलिये श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं कि विषय-चिन्ता मत करो; क्योंकि इससे मनुष्य उस चिन्तामें फंस जाता है, मनके फंसनेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे शोक या मोह उत्पन्न होता है, मोहसे चित्त अस्थिर होता और विवेक जाता रहता है, फिर मनुष्य आपेसे बाहर होकर अपने आपको भूल जाता है।

* * *

जो मनुष्य मनपर विजय लाभकर अपने कर्तव्य-पालनमें अपनी सारी शक्तियोंको लगा देता है वह इस प्रकारके अभ्याससे अपनी बुद्धिको दिन दिन अधिकाधिक स्थिर करता है और दुःखसे डांवाडोल नहीं होता। वह ब्रह्म-चिन्तामें मग्न होकर संसारको ब्रह्ममय देखता है। उसके किसी कार्यसे किसीकी हानि नहीं होती, क्योंकि विश्वकल्याण ही विश्वात्माके दर्शनकी सोपान-परम्परा है।

परमात्मा निर्गुण—निराकार है। जीवात्मा उसके समीप तभी पहुंचता है जब वह उसके समान हो जाता है। यह बहुत सच है। पर निर्गुण और निराकार कोई कैसे हो सकता है? यह तो अभी विश्वास ही नहीं होता कि हमारा शरीर और यह सृष्टिरूप परमात्माका शरीर ही सत्य नहीं है, सत्य तो उसके अन्दरका आत्मा और परमात्मा है। इसका अनुभव करनेको तपस्या करनी पड़ती है। वह तपस्या शरीर, मन

और बुद्धिसे करनी पड़ती है। इसलिये शरीर, मन और बुद्धि-की भलीभांति रक्षा करनी पड़ती है। इसके लिये अन्न और वनस्पतियोंके रससे शरीरमें वीर्य बनाये रखना होता है। शरीर स्वच्छ रहनेसे बुद्धि और मन भी वैसे बन जाते हैं। ऐसे पवित्र मन, बुद्धि और शरीरसे परमात्माके स्वरूपकी अहर्निश चिन्ता किये बिना दर्शन नहीं होते। परन्तु अहर्निश चिन्ता करना तबतक साध्य नहीं है जबतक मनुष्य अपने शरीर और मनको इतना सुदृढ़ न बना ले कि संसारकी लीला अथवा प्रकृतिके उलटफेरका उसपर कुछ भी प्रभाव न पड़े। शरीर और मनपर पूर्ण स्वामित्व तभी उत्पन्न होता है जब इन्द्रियोंको स्वार्थ-सम्पादनसे रोक लें अर्थात् जो कोई कार्य हम करें वह स्वार्थके लिये न हो—वह परमात्माको समर्पित हो—उसके फल मनुष्य जातिको प्राप्त हों। विश्वात्माका कार्य विश्वकल्याणकी कामना है। विश्वात्माकी प्राप्ति विश्वकल्याणकी कामनामें तन, मन, धन अर्पण कर देनेसे होती है।

जो लोग सब काम धाम छोड़कर 'हरिनाम' लेना ही पुरुषार्थ समझते हैं वे बहुत भूलते हैं। उन्हें जानना चाहिये कि जीवात्मा जो शरीर धारण करता है वह शरीरको निकम्मा बना रखनेके लिये नहीं। हम आप ऐसी कोई बात कर सकते हैं जिससे कोई लाभ न हो—जिसका कोई काम न हो। पर परमात्मा ऐसी भूल नहीं कर सकता कि व्यर्थ शरीर निर्माण करे। इसी प्रकार बुद्धि और मनका भी हाल है। मनुष्य अपने शरीर, मन और

बुद्धिकी समोन्नति करे, इसीलिये शरीर धारण किया जाता है। ऐसे समुन्नत शरीरसे विश्वकल्याणके काम आना ही परमात्माके भक्त जीवात्माओंका उद्देश्य है। इसलिये काम धाम छोड़ना अनुचित और सब काम करना ही उचित है।

परन्तु काम निष्काम होकर करना चाहिये। सामने परमात्माको और मनमें विश्वकल्याणकी कामनाको रखकर योगपूर्वक कार्य करना ही कर्मयोग है। इससे दोनों लोक बनते हैं। इस तरह काम करनेकी आदत डालने और अपने सब काम, अपना शरीर, बुद्धि और बल ईशसेवामें लगा देनेसे बिना बुलाये भक्तका सेवक परमात्मा और कर्मवीरपर लट्टू होनेवाली कीर्त्ति दोनों आप ही आप पास आ जाते हैं।

मनुष्यको सदा दो प्रकारके कामोंकी ओर ध्यान देना चाहिये—(१) नित्यके कार्य्य और (२) नैमित्तिक कार्य। नित्यके कार्य अर्थात् सूर्योदयसे प्रथम ही शौचादि विधि और जलस्नानसे निवृत्त हो सूर्यदेवके कोमल किरणोंसे सर्वांगस्नान करते हुए संध्यावंदन, प्राणायाम और गायत्री जप करना तथा नित्यके जो पंचमहायज्ञ हैं उनको प्रसन्नतापूर्वक संपादन करना। नैमित्तिक कार्य वे हैं जो समयकी विशेष परिस्थितिके कारण उत्पन्न होते हैं; जैसे प्लेग, महामारी, हैजा, दुर्भिक्ष आदिसे (जो भारतवासियोंके नित्यके सहचर हैं उनसे) और दुष्टोंके अत्याचारसे लोगोंको बचाना, देशपर शत्रु आक्रमण करे तो शत्रुको हटाना इत्यादि।

अभिमानको त्यागकर जो कर्मवीर श्रीकृष्ण भगवानके इस उपदेशामृतसे अमर होकर कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण होंगे उन्हें अवश्य सफलता प्राप्त होगी।

* * * *

यह बात प्रत्येक मनुष्यको ध्यानमें रखनी चाहिये कि सब मनुष्य एक ही प्रकारके काम नहीं कर सकते। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी प्रवृत्ति और स्वभाव पहचानकर किसी कामको उठाना चाहिये। स्वभाव, प्रवृत्ति और संस्कार मनुष्यको किसी खास कामके योग्य बनाते हैं। इसलिये इनका विचार कर लेना चाहिये। जो लोग ऐसा विचार नहीं करते वे भ्रमसे अपनी बिरादरी, अपनी वृत्ति, या अपना गांव छोड़कर दूसरी जगह चले जाते हैं और फंसते हैं। एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके पहले इस बातका खूब विचार कर लेना चाहिये कि क्या इस स्थानपर हम रह ही नहीं सकते? अथवा क्या उस स्थानकी (जहां जाना है) इच्छा हमारा पिण्ड छोड़ ही नहीं सकती? अगर नहीं छोड़ सकती तो स्थानपरिवर्त्तन ही ठीक है।

* * * *

भारतवर्षकी वर्तमान दुर्दशाके अन्य अनेक कारणोंमें प्रधानतः ब्रह्मचर्यका अभाव है। इसी कारण गीता जैसे परम उपकारी ग्रन्थोंके रहते हुए भी हम बात बातमें अपमानित होते हैं, और अपनी उन्नति और पराक्रमके विषयमें हतोत्साह हो रहे हैं! संसारमें इतना गिरा हुआ देश और कोई नहीं है! विदेशी

बालक यहां आकर भारतवासी युवकोंको लजाते हैं, इसका अनुभव किसको नहीं है ? विदेशमें ८०-९० वर्षके वृद्ध भी उत्साही, पराक्रमी और व्यायामपटु होते हैं ! विदेशमें ५० वर्षके मनुष्य भी अपनेको पूर्ण युवा मानते हुए कालेजोंमें अभ्यास करते हैं। और हे भारतवर्ष! तू हां इतना क्यों गिर गया कि तेरी युवा सन्तान २५ वर्षकी भरजवानीमें मृत्युको आलिंगन देती है ? इसका कारण ब्रह्मचर्यका अभाव है। नवयुवको ! याद रक्खो, तुम्हारी उन्नति तुम्हारे ब्रह्मचर्यपर ही निर्भर है।

हम लोग जो अन्न खाते हैं उसका शरीरके अन्दर रस बनता है। रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे वीर्य बनता है। इसी वीर्यसे शरीरकी रक्षा होती है। इसी वीर्यसे शरीर बलिष्ठ, सतेज और हृष्टपुष्ट होता है। यही जीवनका आश्रय है। इसीकी रक्षा करना परम धर्म है-इसी रक्षाका नाम ब्रह्मचर्य है। शास्त्रीय रीतिसे परीक्षा कर देखनेसे मालूम हुआ है कि वीर्यका एक बिन्दु रक्तके चालीस बिन्दुके बराबर है और जननेंद्रिय ही सारी शक्तियोंका उद्गमस्थान है—उसीके बने रहनेसे सब कुछ बनता है।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरु ते बिन्दुधारणम्॥

वीर्यक्षयसे ही मृत्यु होती है और वीर्यधारण ही जीवन है। इसलिये हर उपायसे वीर्यकी रक्षा करनी चाहिये। हिन्दुओ ! स्मरण रक्खो, विलासितासे ही तुम्हारा सर्वनाश हुआ है।

विलासिताको अब यहां न रहने दो। समय सात्विक कार्य करनेके लिये और वीर्य, उस कार्यको वीरता और सफलतासे करनेके लिये है। ब्रह्मचर्यके बिना संसारमें किसीकी किसी प्रकारकी उन्नति नहीं होती। संसारमें जो बड़े बड़े ऋषि मुनि और प्रचंड-शक्तिसम्पन्न आविष्कारक, रणधीर योद्धा, प्रभावशाली वक्ता और लेखक उत्पन्न हुए वे सब ब्रह्मचारी थे। भारतके नवयुवको! यदि तुम्हें इस जीवनका वास्तविक आनन्द लूटना है और अपने अभागे देशको फिरसे जगद्गुरुके पदपर बैठाना है तो ब्रह्मचारी बनो। तुम्हारे पास धन नहीं है तो परवा नहीं, ब्रह्मचर्य है तो राणा प्रतापकी तरह अपना व्रत निवाह सकते हो, छत्रपति शिवाजीकी तरह स्वराज्य स्थापित कर सकते हो और राजा जनककी तरह धर्मराज्य कर सकते हो। वीर्यकी शक्ति इतनी प्रचण्ड है कि तुम्हें संसारकी कोई शक्ति नहीं हिला सकती। वीर्यके बलसे ही योगी लोग परमात्माको पाते हैं।

* * *

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ?

ब्रह्मचर्य-पालनमें बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। शहरके रहनेवालोंके इर्द गिर्द इतने प्रलोभन हैं कि शहरवासियोंमें एकाध ही कोई मनुष्य ब्रह्मचर्यनाशके महापापसे बचता हो। नशेखोरोंकी संगसोहबत, अश्लील नाटकोंके देखनेमें जागरण, अश्लील उपन्यासोंका पठन, आलस्य आदिसे सदा बचनेका अभ्यास करनेवाला पुरुष ही ब्रह्मचारी रह सकता है। ब्रह्मचर्य-

पालनके लिये आठों प्रकारके मैथुनसे सदा दूर रहना चाहिये।

श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

ये आठ प्रकारके मैथुन हैं। प्रत्यक्ष स्त्रीसंभोगके अतिरिक्त श्रवणादिसे भी वीर्यकी अधोगति होती है। इसलिये कदापि मनमें रेतःपातका विचार न आना चाहिये। अभ्यास करनेसे यह कोई कठिन बात नहीं है। पर अभ्यास आरम्भ करना ही कठिन होता है। इसलिये सदा स्मरण रखना चाहिये कि वीर्य जीवन, जीवनहेतु और प्रभुके दर्शनके लिये है। वीर्यका एक और उपयोग है और वह सिखाना भी नहीं पड़ता। प्रत्येक वीर्यवान् मनुष्यमें अपने जैसा एक और प्राणी उत्पन्न करनेकी इच्छा होती है। इस इच्छाको पूर्ण करना पाप नहीं है—धर्म ही है। वीर्यका नाम ही उत्पत्ति-बीज है और उसका काम सन्तान उत्पन्न करना है। परन्तु व्यर्थ ही वीर्यका नाश करना महापाप है, क्योंकि इससे मनोहर संसारकी मनोहरता जाती रहती है—जीवन फीका जान पड़ता है और कोई पराक्रम नहीं बन पड़ता। लोक कल्याण करना अथवा एक जीता जागता प्राणी तैयार करना—ये ही दो वीर्यके काम हैं।

परन्तु वीर्यरक्षा तभी हो सकती है जब मनुष्य वीर्यके महत्वको समझे। हमलोगोंमें खाने पीने, उठने बैठने और चलने फिरनेके विषयमें इतने वाहियात नियम चल गये हैं कि इन नियमोंको बिना तोड़े ब्रह्मचर्यका पालन नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्यका अर्थ है, प्रकृतिपर प्रभुत्व जमाना और हमारी जीवन-चर्या ऐसी है कि हम लोग प्रकृतिके गुलाम बन रहे हैं। प्रातःकालसे लेकर सोनेतक हम लोगोंको अपने लिये ऐसे नियम बना लेने चाहिये जिनसे शरीर, मन और बुद्धिकी उन्नति हो। पहली बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि हमें जहांतक सम्भव हो, निसर्ग-नियमोंसे चलना चाहिये। ब्राह्ममुहूर्तमें सोकर उठिये और देखिये कि वायु कितनी स्वच्छ और पवित्र है। इस वायुमें प्राणशक्ति फैली रहती है। सवेरे उठनेवाला कर्म-योगी इस वायुसे अपने जीवनके लिये भरपूर प्राणशक्ति प्राप्त कर लेता है। इस विषयमें पशुपक्षी हमारे गुरु हैं। उनको प्रातः समीरसे जो आनन्द मिलता है और जो पवित्र शक्ति प्राप्त होती है वह उनके नीरोगी कंठसे बाहर फूट निकलती है। इस-लिये सवेरे उठनेकी शिक्षा हमें पक्षियोंसे ग्रहण करनी चाहिये। इसके उपरान्त आपके शरीरसे रोग निकाल बाहर करनेके लिये सूर्यदेव अपने कोमल किरणोंसे आपको सर्वांग स्नान कराने आते हैं। परंतु आप इस वक्त बन्द कोठरियोंमें खर्राटे मारते पड़े हों तो सूर्यदेव क्या करेंगे? शरीर सदा स्वच्छ रखना चाहिये। निसर्गकी अद्भुत कृति पर्वतसे निकली हुई किसी पवित्र जल-धारा अथवा देवनदीमें सानन्द और सावकाश सर्वांग स्नान करना अत्युत्तम है। जहां ऐसी धारा या देवनदी न हो वहां कुएंके जलसे ही शरीर स्वच्छ रखना चाहिये। शरीर स्वच्छ-कर परमात्माकी आराधनासे अथवा निसर्गदेवकी कृतज्ञता-

पूर्वक पूजा करनेसे मन उल्लसित और बुद्धि तीव्र होती है। सूर्यदेवके कोमल किरणोंसे शरीरके रग रगमें प्राण सञ्चय करते हुए, ऋषि मुनियोंने, पञ्चमहाभूतोंकी उपासना, सूर्यदेवको अर्घ्यप्रदान और प्राणायाम करनेका क्या ही उत्तम उपदेश दिया है। यह उपदेश सदाके लिये है। प्यारे युवको! क्या आपके रहते वह अरण्यरुदनमात्र होगा? सवेरे उठते ही सिगरेट तमाखूसे शरीर और मन विषमय करनेके बदले उक्त प्रकारसे यदि लोग समयका उपयोग करें तो क्या ही अच्छा हो! इसी प्रकार जीभके गुलाम बनकर मनमाना खानेकी आदत डालनेके बदले यदि भूख लगनेपर ही स्वच्छ पवित्र और यथासम्भव निसर्गसिद्ध अन्न खानेका अभ्यास करें तो हमारी शक्ति कितनी अद्भुत हो जाय। सोनेसे पहले नशाखोरी या गप्पाष्टक करनेके बदले यदि हम मलमूत्र विसर्जन कर ईश्वरकी आराधना कर सोवें तो कैसी मीठी नींद ले सकते हैं—चित्तमें कैसा आह्लाद और शरीरमें कितना बल आता है! वैसे ही बंद कोठरियोंमें मुंहपर चादर अथवा पुरानी रजाई ओढ़कर सोनेके बदले स्वच्छ कपड़ोंके साफ बिस्तरेपर खुली हवामें नियत समय सोनेका प्रयत्न करें और ६ घंटेसे अधिक न सोवें तो मनकी प्रसन्नता कितनी बढ़ती जाती है! और अन्तमें यह कह देना है कि अश्लील उपन्यास पढ़ने अथवा नाटक देखकर शरीरमें विष फैलानेके बदले यदि गीता जैसे ग्रन्थको नित्य पढ़नेपर सोनेका अभ्यास डालें तो नींदकी खुशामदमें रात बिता देनेवालोंको भी

कैसी अनायास विश्रान्ति मिलती है! इत्यादि बातोंपर अभ्यास-पूर्वक विचार करनेवाला मनुष्य साहसी, बलवान्, तेजस्वी और प्रभावशाली बनता है, क्योंकि उसका वीर्य नष्ट नहीं होने पाता बल्कि वीर्यवृद्धि होती रहती है।

जो लोग अनर्थ वीर्यपात कर चुके हैं वे प्रायः औषधियोंकी शरण लेकर, अपना तन, मन और धन देकर आत्मघात कर लेते है। उन्हें निसर्गके नियमोंको जानना चाहिये और यह विश्वास रखना चाहिये कि उनके अनुकूल चलकर वे अपनी शक्ति अद्भुत रूपसे आप ही बढ़ा सकते हैं। अभी हम लोग सांस लेनातक नहीं जानते। जंगलमें रहनेवाला मनुष्य हम लोगोंको सांस लेना सिखला सकता है। वह जन्मसे ही निसर्ग देवीकी गोदमें पला रहनेसे नैसर्गिक श्वसनशास्त्रका वास्तवमें (बकवादमें नहीं) पंडित होता है। मनुष्यको ठीक उसी तरह सांस लेनेकी चेष्टा करनी चाहिये जिस तरह जन्मते ही नन्हा बालक लेता है। वह सांस पूरी सांस होती है। पूरी सांस लेनेसे शरीरके अन्दरका सब मैल साफ हो जाता है। परन्तु शहरकी संगसोहबतने हमें निसर्गसे इतनी दूर ला छोड़ा है कि पूरी सांस लेना सीखनेके लिये अब तपस्या करनी पड़ेगी। ऐसी तपस्या करनेवाले लोग अमेरिका, जर्मनी आदि देशोंमें उत्पन्न हुए हैं। उन्होंने इस विषयमें ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें नैसर्गिक व्यायामपद्धति और पूर्ण श्वसनके व्यायाम बतलाये गये हैं। स्थलसंकोचके कारण हम यहां उनको नहीं लिख सकते। इतना बतला देना पर्याप्त समझते हैं कि हम

लोग जिस प्रकार सांस लेते हैं वह ठीक नहीं है, हमको स्वच्छ वायुमें रहकर वह प्राणमय वायु यथाशक्ति खींचकर शरीरके अन्दर फैला देनेकी चेष्टा करनी चाहिये और फिर अन्दरकी दूषित वायु बाहर निकाल देनी चाहिये। चेष्टा करनेसे इस तरह सांस लेनेकी आदत पड़ जायगी। यह चेष्टा ही सच्ची औषधि है। इस औषधिसे असाध्य क्षयरोग भी साध्य होते हैं और मनुष्य वीर्यवान् बनता है। शायद यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि सांस नाकसे ही लेनी चाहिये—मुंहसे नहीं।

जब मन किसी मोहक वस्तुको देखकर बहकने लगे तब भी इसी प्रकार सांस लेकर शरीरका विष निकाल देना चाहिये।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यके लिये जो लोग यत्न करते हैं वे महापुरुष भी बन सकते हैं, उन्हें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं! वे ही परमात्माके प्यारे भक्त हैं। उनकी बुद्धि स्थिर होती है। वे ईश्वरको जान लेते हैं।

* * *

परमात्मा ज्ञानमय है। ज्ञानसे ही उसके दर्शन होते हैं। परन्तु जो लोग ब्रह्मचर्य नहीं पालन करते उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। जिनकी बुद्धि अस्थिर है उन्हें किसी विषयका ज्ञान नहीं प्राप्त होता। इसलिये ब्रह्मचर्य पालनकर ज्ञान लाभ करना चाहिये।

मनुष्य स्वयं ज्ञानी है, परंतु प्रकृतिके परदेमें उसे ज्ञानका अनुभव नहीं होता। इसलिये अज्ञानसे वह ऐसे कर्म करता है जिनसे वह उन सब कर्मोंमें फंसता है और ज्ञानका प्रकाश

उसे नहीं दिखायी देता। जबतक ज्ञानका प्रकाश उसपर नहीं पड़ता तबतक वह उस ज्ञानके लिये जन्म लेता रहता है। जन्मका प्रथम उद्देश्य यह है कि मनुष्य ज्ञानी हो।

परन्तु ज्ञान प्राप्त करनेका उपाय केवल विचारकर बेकार पड़े रहना नहीं है। सच्चा ज्ञान अनुभव-ज्ञान है। पुस्तकें पढ़कर बिना अनुभव जो ज्ञान होता है वह असली ज्ञान नहीं है। अपने जीवनमें हम जिस ज्ञानको उपयोग कर परख लेते हैं वही सच्चा ज्ञान है। अर्थात् सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेका उपाय जीवनका सदुपयोग है। इस उपायको कर्मभूमि अपना शरीर, मन और बुद्धि, तथा देश, मानव जाति और प्राणि-मात्र हैं। पहले हमने जिस शरीरको धारण किया है उसके एक एक पुर्ज़ेको ठीक रखना हमारा कर्तव्य है। फिर जिस मनसे हम अपने शरीरकी मशीन चलाते हैं, उसे अपनी विवेकबुद्धिकी सोहबतमें रखना हमारा कर्तव्य है। और इस प्रकार जब हम अपने शरीरके स्वामी बन जाते हैं तब हमारा यह काम है कि जिस संसारस्वामीके निकट हमें जाना है उस संसारकी शारीरिक और मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नतिका कार्य करें। इस प्रकार हमारा शरीर, मन और बुद्धि अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो जानी चाहिये। तभी तो हम जीवात्मासे विश्वात्मा बनेंगे। इस आदर्शको सामने रखकर सबसे पहले हममें अपनी उन्नतिके साथ साथ

देशोद्धार

करनेकी प्रबल इच्छा होनी चाहिये। देशका उद्धार कौन करेगा?

जिनका देश है उन्हींको उसके उद्धारकी चिन्ता करनी चाहिये। यही तो न्याय है। जो लोग निर्गुण निराकार ईश्वरके भरोसे हाथपर हाथ धरे बैठे रहते हैं उनके देशका उद्धार कदापि नहीं हो सकता। जैसे हमारे शरीरकी उन्नति हमारे सिवा दूसरा कोई नहीं कर सकता, उसी प्रकार हमारी देशरूपी देहको भी और कोई बलिष्ठ नहीं कर सकता। यदि हमें बलिष्ठ होना है तो पहले हमें काममें हाथ लगा देना चाहिये, फिर ईश्वर मालिक है। जो लोग

ईश्वरी अवतार

मानते हैं उन्हें जानना चाहिये कि ईश्वर आलसी, दुराचारी और परमुखनिहारनेवालोंकी बन्द कोठरियोंमें अवतार नहीं लेता। ईश्वर उन्हींकी मदद करता है जो अपनी आप मदद करते हैं। श्रीकृष्ण भगवानने क्या कहा है? जब महात्माओंपर अत्याचार होते हैं तब मैं अवतार लेता हूं। पहले महात्मा हों और जब उनपर अत्याचार हों तब ईश्वरके अवतारकी बात निकालनी चाहिये। अत्याचार, कष्ट और नाना प्रकारकी आपदाएं सहनेके लिये जब मनुष्य तैयार हो जाता है तब कहना चाहिये कि उसने अपने शरीरपर अधिकार जमा लिया—उसका जीवन अपना जीवन है—उसकी आत्मा एक ही शरीरके अन्दर नहीं बल्कि संसारमें फैली हुई है।

इस प्रकार जिसका हृदय फैल जाता है वही ज्ञानयोगका

अधिकारी होता है। उसीको ज्ञान प्राप्त होता है और वही जीवात्मासे विश्वात्मा बनता है; क्योंकि अपने भाइयोंके लिये प्रसन्नतासे कष्ट स्वीकार करनेवाला कर्मवीर सुखदुःखसे छूट जाता है। वह अपना कर्तव्य ही करता है। उसे अपना शरीर एक यन्त्र मालूम होता है और उस यन्त्रसे वह लोगोंकी उन्नतिके सामान तैयार करता है। इसलिये लोग उस शरीरको पूज्य मानते हैं।

* * * *

इस प्रकार भूतसेवामें शरीर, मन और बुद्धिको लगा देना ही संन्यास है। जो लोग गेरुए वस्त्र पहन लेते हैं और केवल छत्रमें भोजन और मठमें निद्राका व्रत धारण करते हैं वे संन्यासी नहीं हैं। गीताकार कहते हैं कि संन्यासी जितेन्द्रिय होना चाहिये। उसे सबको समदृष्टिसे देखना चाहिये और कोई कार्य करते हुए सुख दुःख न मानना चाहिये। ऐसी वृत्तिवाला पुरुष वही हो सकता है जो स्वार्थको जलांजलि देने और भूतसेवा करनेमें जीवन दे दे। वह जीते जी मुक्त हो जाता है। उसका नाम, काम और धाम तीनों अमर होते हैं।

* * * *

हम आप अपने सब काम करते हैं। परन्तु जिस विशाल शक्तिने यह विश्वब्रह्मांड रचा—जिसकी सत्तासे नित्यप्रति सूर्यदेव आकर हमारे रोगोंका नाशकर हमें तेजस्वी बनाते हैं और निशाकालमें चंद्रदेव हमारे वीर्याधार वनस्पतियोंको सुधारससे

पुष्ट कर जाते हैं—जिसकी सत्तासे वायुदेव हमारे शरीरको शुद्ध बनानेका हर समय काम कर रहे हैं और वरुण इस वसुन्धरा-को शस्यश्यामा बनानेके लिये गिरिकन्दराओंसे पवित्र जलधाराएं प्रवाहित करते हैं—जिसकी सत्तासे रत्नगर्भा वसुन्धरा हमारी श्रीसमृद्धिको वृद्धिंगत कर रही है, उस सर्वपालक न्याय-मूर्त्ति परमात्माके ध्यानमें हम एक पल भी खर्च न करें यह कितनी शोचनीय अवस्था है !

हमारी जीवनचर्या ही निसर्गनियमोंके इतनो प्रतिकूल हो गयी है कि हमें उस प्रचंड दैवी शक्तिके लाभहानिका थोडासा भी ज्ञान नहीं है और इसलिये पंचमहाभूत हमें किस प्रकार पालते पोसते हैं और हम उनका कैसा निरादर करते हैं इसका विचार सपनेमें भी पास फटकने नहीं पाता। फिर प्रकृतिके परे उस पर-मात्माकी कौन सुध ले ? इसलिये हमारो यह अधोगति हुई कि परमार्थको डींग हांकनेभर ही सामर्थ्य रह गयी है और पाश्चात्य देशवासी जो पार्थिव उन्नतिमें लगे रहे वे निसर्गनियमो-को जानने लगे हैं। उन नियमोंसे उन्हें जो लाभ होता है उसकी हमें खबरतक नहीं लगने पाती ! वे निसर्गनियमोंका पालनकर परमात्माकी ओर जा रहे हैं और हम परमार्थकी बातोंमें ही लगे रहकर पार्थिव उन्नति भी करने योग्य नहीं बन सके !

इसलिये हमें निसर्गके नियमोंको समझना चाहिये और जिस परमात्माकी सत्तासे सदा हमारी सेवा करनेके लिये निसर्ग-देव तत्पर हैं उस परमात्माके ध्यानमें जितना समय खर्च करें उतना

थोड़ा ही है। परमात्माका ध्यान करनेके लिये निसर्ग नियमोंका पालन करना पड़ेगा, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। उन नियमों के अनुकूल चलनेसे मनुष्यमें स्वातंत्र्यवृत्ति उत्पन्न होगी, क्योंकि स्वभावतः ही मनुष्य स्वतंत्र है। परन्तु स्वतंत्र होनेके लिये इंद्रियोंकी अधीनताका पाश तोड़कर विवेक और न्यायके अधीन होना चाहिये।

* * *

मनुष्यको केवल आत्माका ही भरोसा रखना चाहिये। जितने काम हमलोगोंको करने पड़ते हैं उन सबमें एक अपना ही सहारा हो। हमलोग अबतक सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि सभी बातोंमें दूसरोंकी ओर देखते हैं, यह बहुत ही बुरा है। इससे अज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हर बातमें मनुष्यको स्वतंत्र होना चाहिये। स्वतंत्रतासे ही मनुष्यकी पूर्ण उन्नति हो सकती है। परतंत्र मनुष्य कदापि अपने मन, बुद्धि अथवा शरीरकी यथेष्ट उन्नति नहीं कर सकता। इसीलिये पहली बात स्वावलंबन है।

* * *

मनुष्यको यदि वक्तपर सब काम करनेकी आदत न हो तो यह मनुष्य कोई अच्छा काम नहीं कर सकता। हम लोग जो नित्य काम करते हैं उन कामोंको ठीक समयपर करें तो इससे अपना और अपने देशका कल्याण होगा। सोना, सोकर उठना, स्नान संध्यादि करना, व्यायाम और प्राणायाम, भोजन और जलपान,

व्यवसाय और मनोरंजन आदि सभी काम ठीक समयपर करें तो हमारे और आपके लिये बहुतसा ऐसा समय बच जायगा जब हम और आप और कोई अच्छा काम कर सकते हैं। यह बड़ा भारी लाभ है पर इतना ही मत समझिये। नियमिततासे शरीरके अन्दर जो कार्रवाई हुआ करती है वह ठीक समयपर जैसी चाहिये वैसी होती है। समयपर काम न करनेसे शरीरके पुर्जे बिगड़ जाते हैं और मस्तक तड़कने लगता है—रोग पैदा होते हैं—मन मलीन हो जाता है और बुद्धि भ्रष्ट होती है। इसी लिये ध्यानपद्धति बतलानेसे पहले श्रीकृष्ण भगवानने स्वावलंबन और नियमितताकी शिक्षा दी है।

* * *

ध्यान करनेका समय निश्चित नहीं है; क्योंकि जिस समय आप चाहें उसी समय आप ध्यान कर सकते हैं। जिस समय ध्यानमें मन लगे वही समय ठीक है। सायंकालका मनपर कैसा प्रभाव पड़ता है यह बात सभी जानते हैं और इसीलिये उस समय खाना पीना बन्दकर ईश्वरकी आराधना करनेकी अच्छी रीति है। परन्तु जो लोग सवेरे नहीं उठ सकते वे नहीं जानते कि प्रातःकालकी क्या महिमा है। वे पहले सूर्योदयसे पूर्व उठकर मकानकी छतसे अथवा किसी मैदानमें जाकर सृष्टि-सौन्दर्य देखें तो उन्हें मालूम हो जायगा कि परमात्माका अथवा निसर्गदेवका ध्यान करनेका उत्तम समय प्रातःकाल ही है।

प्रातःकाल और सायंकाल, और हो सका तो मध्याह्नमें भी ईश्वर-की आराधना करनी चाहिये।

ईश्वरकी आराधनाका कोई खास मार्ग नहीं है, जिसके जीमें जैसा आवे वह वैसी ही उपासना करे। परन्तु आर्यऋषियोंने और गीताकारने भी निश्चित मंत्रोंद्वारा उपासना करना उत्तम माना है। मुख्य मंत्र गायत्री है। इस मंत्रको मनमें उच्चारण-कर उसके भावको समझते हुए विश्वात्माके ध्यानमें मगन होना चाहिये। परन्तु सब लोग चाहे जैसे स्थानपर बैठकर ध्यान नहीं कर सकते। इसलिये ध्यान करनेके लिये आसनकी भी व्यव-स्था बतलायी है। स्थान पवित्र, स्वच्छ और सूर्य किरणोंसे शोधित होना चाहिये। वहां गन्दी हवा कहींसे न आने पावे इसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। ऐसे स्थानमें कुशासनपर धूत-वस्त्र बिछाकर श्रद्धालु पुरुष बैठ जाय। फिर पालथी मारकर शरीरके सारे अवयवोंको स्वाभाविक स्थितिमें कर ले अर्थात् कमर या गरदन झुकी न रहे, हाथ जरा पीछेकी ओर और छाती आगेकी ओर फैली हुई हो। फिर दोनों भौओंके बीचमें दृष्टिको एकाग्र कर परमात्माका ध्यान करना चाहिये। इस समय मनमें और किसी प्रकारका विचार न घुसने पावे। हां, ध्यान करते समय पूर्ण श्वसन लेने, निरोध करने और छोड़ देनेका अभ्यास करना बहुत अच्छा होगा। इस प्रकार नित्य नियत समयपर ध्यान करना चाहिये और जब जब मन बहकने लगे तब तब परमात्माका ध्यानकर इसी प्रकार पूर्ण श्वसन करना चाहिये।

ऐसे समय विषयचिन्तामें फंसनेके लिये मन जबर्दस्ती दौड़ जाय तो उसके बुरे परिणामका ही ध्यान करना चाहिये।

इस प्रकार जो लोग योगपद्धतिसे ध्यान करते हैं, वे जिस दर्जेका उनका ध्यान होता है वैसा फल पाते हैं। थोड़े अभ्याससे भी बड़ी कठिनाई दूर होती है और यह अभ्यास इस संसारमें और जन्मजन्मान्तरमें भी काम आता है। अर्जुनने जब पूछा कि योगसे च्युत हुए मनुष्यकी क्या गति होगी तब भगवानने यही उत्तर दिया कि उसकी अच्छी गति होगी—वह दूसरे जन्ममें किसी श्रीमान् और पवित्र कुलमें उत्पन्न होगा अथवा किसी ऐसे स्थानमें जन्म लेगा जहां वह अपना योगाभ्यास पूरा करनेकी सामग्री पा सके।

* * * *

'प्रकृति' इस एक शब्दसे सारे संसारकी देख-अदेख-वस्तुओंका बोध होता है। और 'प्रभु' यह नाम उस आधारका है जिसकी सत्तासे संसारकी स्थिति है।

प्रकृतिके दो भेद हैं; एक परा और दूसरी अपरा।

पंच महाभूत अर्थात् पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश और मन, बुद्धि, तथा अहंकार ये अपरा प्रकृतिके आठ भेद हैं। अर्थात् यह सारी सृष्टि, सृष्टि सम्बन्धी सारे शास्त्र, सिद्धान्त, तर्क और 'मैं हूं' इस विषयका ज्ञान आदि अपरा प्रकृतिके अन्तर्गत हैं। भूस्तर, वनस्पति, जीवन, ज्योतिष, गणित, मानसनीति आदि सारे शास्त्रों और सिद्धान्तोंका अपरा प्रकृतिमें अन्तर्भाव होता

है। तात्पर्य, मिट्टीके एक कणसे लेकर देखने और जाननेकी सब बातें और उनका ज्ञान अपरा प्रकृति है।

परंतु इन सब वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करनेवाली, भोग करनेवाली और संसारको चलानेवाली एक शक्ति है जिसे जीव कहते हैं। इसीको पुरुष अथवा परा प्रकृति भी कहते हैं। यह ज्ञानस्वरूप है। यही मनुष्यके ज्ञानकी सीमा है।

जीव इच्छा और संस्कारोंसे आच्छन्न है। इच्छा निर्मूल होनेपर जीव ही शिव या प्रकृतिका प्रभु है। वह सर्वव्यापी है—निर्गुण और निराकार है।

इस प्रकार संसार या संसारकी प्रत्येक वस्तु अथवा प्रत्येक मनुष्यके तीन रूप हैं—(१) प्रकृति अर्थात् पंचमहाभूतोंसे बना शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार, (२) जीवात्मा अर्थात् इच्छाच्छन्न आत्मा, और (३) निर्गुण—निराकार आत्मा।

जीवात्मा इच्छाच्छन्न होनेके कारण सुखदुःखका भागी होता है और दुःख दूर करनेके लिये जिस सर्वव्यापी शक्तिकी सत्तासे संसारचक्र चल रहा है उसकी शरण लेता है। ऐसी शरण लेनेवालोंके चार भेद हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इनमें ज्ञानी ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वह अपने बलका पूर्ण उपयोग कर अज्ञानरूपी जंजीरको तोड़ देता है। वह अपनी बुद्धिका सदुपयोग करता है और शरीरको अच्छे कामोंमें लगाता है।

* * * *

उस निर्गुण-निराकार परमात्माका नाम ब्रह्म है। जीव भी

ब्रह्म है—परन्तु हम उसको तबतक अनुभव नहीं कर सकते जबतक सांसारिक संस्कारका हमारे ऊपर प्रभाव पड़ा हुआ है।

ब्रह्मज्ञानके लिये ब्रह्मचर्य धारण करना पड़ता है—जीवनको ब्रह्मार्पण कर देना पड़ता है। परन्तु सभी कार्य क्रमसे होते हैं—एकाएक कोई ब्रह्मज्ञानी नहीं होता! ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये पहले विचार और आचारको शुद्ध करना पड़ता है।

'सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है' इस सिद्धान्तको सामने रखकर जो कर्मवीर अपने शरीर, मन और बुद्धिको ब्रह्ममय संसारकी हित-कामना और हितसाधनामें लगाता है वही ब्रह्मस्वरूपको पहचानने-की चेष्टा कर रहा है। इस प्रकार जिसका जीवन ब्रह्मविचार और ब्रह्मचर्यसे बीतता है वह मृत्युसमयमें यमदूतोंसे नहीं डरता—आनन्दसे ब्रह्मविचारमें मगन हो ब्रह्मके समीप पहुंचता है।

मृत्युसमयमें जिसकी जैसी इच्छा होती है वह वैसा ही जन्म धारण करता है। मृत्युसमय निकम्मा शरीर छोड़ अपनी इच्छा पूर्ण करनेके लिये नवीन देह धारण करनेका समय है। इस समय जो इच्छा होती है उसका हमारे अबतकके जीवनसे अटूट संबंध है। इसलिये मृत्युसमयमें उच्चविचार होने अथवा दूसरा जन्म उत्तम बनानेके लिये अभीसे—इसी पलसे—अपने आचार विचार सुधारनेकी बड़ी ही आवश्यकता है।

जीवकी उन्नति क्रमसे होती है। जीवपर पड़ा हुआ माया-पटल हटने और उसे अपना स्वरूप देखनेके लिये परिश्रम और समयकी आवश्यकता है। इसलिये जो मनुष्य धीरजके

साथ स्वार्थत्यागपूर्वक हृदय और विचारको उन्नत और विशाल बनानेकी चेष्टा करता है वह मनुष्य इस अनन्त काल, अनन्त उद्योगमय जीवन और अपने अनन्त स्वरूप-को पहचाननेकी चेष्टामें उन्नति करता रहता है। कुछ उन्नति हो जानेपर उस मनुष्यका सौ वर्षका जीवन अथवा बारह घंटे-का दिन, जीवन अथवा दिन प्रतीत नहीं होता। वह अपने रात-दिनको ब्रह्मकालसे और जीवनको ब्रह्मजीवनसे विचारता है। सृष्टिके प्रभव-प्रलयके समय ही प्रातःसंध्या प्रतीत होते हैं और अपना जीवन ब्रह्मके समान अनन्त ज्ञात होता है। यही मोक्ष है।

ऐसे कर्मवीर अपने जीवनपर प्रभुता रखते हैं और कालकी गतिको भी रोक सकते हैं। ये मृत्युकालको हटा सकते हैं। दक्षिणायनमें देहत्याग करनेसे क्या हानि है और उत्तरायणमें शरीरविसर्जनसे क्या लाभ है उसे वे जानते हैं और इच्छा-मृत्युके अधिकारी होते हैं।

यह विषय बहुत ही कठिन है, क्योंकि ग्रन्थोंके अध्ययनसे ही इसके सिद्धान्तोंकी सत्यता नहीं सिद्ध होती। इसका संबंध प्राणीके जीवनसे है। जीवनका एक एक पल इस अथाह शास्त्र-का एक एक ग्रन्थ है। प्रत्येक पलमें हम क्या विचारते हैं और क्या करते हैं उनपर ही इसके विषयका यथार्थ ज्ञान होना न होना निर्भर करता है। इसलिये सदसद्विवेकबुद्धिसे पूरा पूरा काम लेकर इस समय क्या कर्तव्य है उसे निश्चित कर काममें हाथ लगानेका श्रीकृष्ण भगवानने उपदेश दिया है।

*   *   *   *

सृष्टिके दो भेद हैं, एक दृश्य और दूसरा अदृश्य अथवा एक रूपात्मक और दूसरा भावात्मक। प्राणियोंके जितने व्यापार हैं वे इन्हीं दो वस्तुओंसे हुआ करते हैं। परन्तु रूप और भावको संसारसे अलग कर देनेपर बाकी क्या बचता है? एक शरीरसे इन्द्रियां, मन और बुद्धिको निकाल देनेपर और क्या रहता है? किसने इन इंद्रियोंको उत्पन्न किया? यह शरीर किसका है? शरीरके विषयमें हम कहेंगे कि हमारा शरीर है, हमारी इंद्रिया हैं, हमारी बुद्धि है। हम कौन हैं? हमारा नाम आत्मा है। उसी प्रकार इस विशाल सृष्टिरूप शरीर और उस शरीरसे काम लेनेवाली इंद्रियां, मन, और बुद्धिका भी कोई आधार है और उसका नाम विश्वात्मा या विश्वेश्वर है—वही सृष्टिकर्ता है। यह संसार उसी ब्रह्मका शरीर है। परन्तु जिस प्रकार पण्डित लोग शरीरको ही सारसर्वस्व नहीं समझते और आत्माका ध्यान करते हैं उसी प्रकार विश्वनाथ भी विश्वको ही विश्वनाथ नहीं समझते और ब्रह्ममें ही लीन रहते हैं। इस प्रकार ही सृष्टिसे सृष्टिकर्ता स्वतंत्र है।

मनुष्य और मनुष्यके शरीरमें भी यही संबंध है। तब क्यों लोग ऐसा नहीं समझते? इसका कारण अज्ञान है। ज्ञान और अज्ञानके मेलसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति है। इसी अज्ञानको माया कहते हैं। माया क्या है? वस्तुका यथार्थ रूप न देखना। धुंधले प्रकाशमें पड़ी हुई रस्सी सांप, रेतीले मैदानमें पड़ी हुई सीप चांदी अथवा अपने ही पैरोंकी आवाज किसी दूसरेके पैरोंकी आहट

मालूम देना ही माया है। हम अपने शरीरको अथवा सृष्टिको जैसा समझना चाहिये वैसा नहीं समझते। मनुष्यदेह बुद्धि और शरीरके सदुपयोगके लिये है-शरीरसुखके लिये आत्मा नहीं है। आत्माने जो शरीर धारण कर लिया है वह कोई विशेष कार्य करनेके लिये है। जो लोग ऐसा नहीं मानते वे प्रकृतिके दासत्वकी जंजीरसे जकड़ जाते हैं। इस दासत्वश्रृङ्खलाको तोड़नेके लिये वे उस प्रभुकी उपासना करते हैं जो हम सबका पिता है और संसारमें न्यायका साम्राज्य ही स्थिर करना जिसका उद्देश्य है।

जो मनुष्य जिस भावसे उसकी उपासना करता है वह उसी भावको प्राप्त होता है। परमात्मा सर्वत्र, सर्वप्रकार और सर्वसाक्षी है। इसलिये उसके यहां उपासना-भेदसे किसीको स्वर्ग या नरक नहीं मिलता। भाव-भक्तिका फल ही भक्तलोग पाते हैं।

* * * *

परमात्मा सबका पिता है और सभी उसकी उपासना करते हैं। परन्तु उपासनाओंमें भेद है और परमात्माके भिन्न भिन्न स्थानोंमें भिन्न भिन्न चित्र दिखायी देते हैं। यह क्यों?

प्रभु ईसाके भक्त ईसाको ही परमेश्वरका अंश और गिरजेको ही उपयुक्त प्रार्थनामन्दिर मानते हैं। इस्लाम मतावलम्बी मुसलमान भाई पीर पैगम्बरको ही दैवी विभूति और मसजिदको ही पवित्रतम स्थान समझते हैं। परन्तु हिन्दू लोग ही क्यों तैंतीस करोड़ देवताओंमें, फल, फूल, और पत्तियोंमें, नदियों और समु-

द्रोंमें, पर्वतों और गिरिकन्दराओंमें, भस्म और मृत्तिकामें भी ईश्वरको देखते हैं और क्यों नहीं एक ईश्वरको मानते ? कारण स्पष्ट है।

परमात्मा सर्वत्र है। पृथ्वीके एक एक कण और सूर्यदेवके एक एक किरणमें परमात्मा वर्तमान है। परन्तु मनुष्यकी दृष्टि इतनी विशाल नहीं है कि अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर उस विश्वरूप विश्वात्माका चित्र नयनपुटमें बना ले। इसलिये जहांतक जिसकी दृष्टि पहुंचती है वहींतक उसका परमात्मा है। जिस स्थानपर चित्त लग जाय वहीं परमात्मा है। मनुष्यका आरोग्य, बल, बुद्धि, यश, विद्या, आयुष्य और तेज बढ़ानेवाले जितने पदार्थ हैं उतने सब पदार्थोंमें मनुष्यका चित्त रममाण होना अत्यन्त स्वाभाविक है। अब जहां मनुष्यका मन रममाण हुआ वहां यदि परमात्माके अस्तित्वके विश्वाससे पवित्रताका संचार हो जाय तो और क्या चाहिये ? इसलिये वसुन्धरा-देवीके जितने सुगन्धमय और प्रकाशमान आभूषण हैं वे हिन्दुओंके लिये पवित्र तीर्थोंके समान हैं।

* * * *

विश्वरूप दर्शनके लिये अर्जुनको जो दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई वह हमारे पास कहां है ? पर हां, हमारी जितनी विशाल दृष्टि, जितना विस्तृत भौगोलिक और ऐतिहासिक ज्ञान, और उदार हृदय होगा उतना ही विशाल यह विश्वरूप हमें दिखायी देगा।

किसी मनुष्यसे भेंट करनेका क्या यही मतलब नहीं है कि

हम उसके शरीरकी तेजस्विता, सारे अवयवोंका गठन और उसका चरित्र जानें? बस तो परमात्माका अनन्तरूप दर्शन करनेका भी यही अर्थ है कि हम अपनी दृष्टिको जितनी दूर फैला सकें उतनी दूर फैलाकर उसके पंचमहातत्वों और उन तत्वोंसे गठित अखिल ब्रह्मांडका दर्शन करें और परमात्माकी न्यायसत्ता, दुष्टोंको दण्ड देने और शिष्टोंके पालन करनेकी वृत्ति तथा आजतक संसारमें किन किन अद्भुत घटनाओं और ऐतिहासिक कर्मयोगोंमें यह दैवी शक्ति प्रत्यक्ष हुई है उनका स्मरण करें।

वर्तमान समयमें सृष्टिके विचित्र स्थानोंमें कैसे नानाविध चमत्कार हो रहे हैं और मानवी जातिका कौन अंश किस कार्यमें लगा हुआ है इस विषयका गंभीरतापूर्वक मनन करें और इस समय कौन सच्चरित्र और न्याय फैला रहा है, कौन किसपर अत्याचार कर रहा है, कौन कायरतासे गर्दन झुकाकर न्यायको मिटा रहा है, कौन उस न्यायकी सत्ता स्थापित करनेके लिये तैयार हो रहा है और अखंड न्यायकारी भगवान् वीरों और साधु पुरुषोंकी श्रीसमृद्धिके लिये क्या क्या सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं तथा नीच, अत्याचारी और कापुरुषोंको अपनी दाढ़ोंमें कैसे पीस रहे हैं, आंख खोलकर, हम लोग इस चित्रको देखें। देखिये प्रभु अपनी अनन्त भुजाओंसे सच्चरित्र और धर्मवीरोंको आलिंगन दे रहे हैं और अधर्मियोंको अपने सर्वग्रासी अनलमें भस्म कर रहे हैं!

* * * *

भक्तिका अर्थ है अत्यन्त एकता। भक्त वही है जो अपने उपास्य देवसे विभक्त या अलग न हो। परमात्माकी भक्ति करनेका फिर यही अर्थ हुआ कि परमात्मासे इतना मेल हो जाय कि परमात्मा अपनेसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु न प्रतीत हो।

जिस मनुष्यको परमात्माका भक्त बनना है उसे परमात्माकी विश्वकल्याणकी वृत्ति अपने अन्दर लानी चाहिये। प्राणिमात्रसे प्रेम करना, सबसे मित्रता और दयाका व्यवहार करना, मोह और अभिमान न करना, सुखदुःखकी परवा न करना, क्षमा, संतोष, प्राणायाम, जितेन्द्रियता, स्वार्थत्याग, न्याय, शान्ति, मित और आवश्यक भाषण इत्यादि परमात्माकी भक्तिके उपाय हैं।

इस उच्चतम भक्तिको सभी कोई नहीं प्राप्त कर सकते। परन्तु सभी भक्त थोड़ी थोड़ी भक्ति अवश्य कर सकते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचंद्रकी भक्ति करना कठिन है, परन्तु वीरवर हनुमानकी वीरताका भक्त बनना उतना कठिन नहीं। अपने स्वभावके अनुकूल जिस मनुष्यको जो आदर्श उचित ज्ञात पड़े उसी आदर्शका वह ध्यान करे।

* * * *

जीवात्मा प्रकृतिजन्य विकारोंके कारण प्रकृतिके चरणोंके पीछे भटकता रहता है। जितेन्द्रिय, निर्भय, और शुद्धहृदय हो नित्य ध्यान करनेसे प्रकृतिकी दासतासे स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इसका थोड़ेमें अनुभव कर लेना हो तो रातको सोते समय इस

शरीरका वास्तविक रूप सामने रख आत्माका ध्यान कीजिये। कुछ दिनोंके अभ्याससे मनकी चिन्ता इतनी शीघ्रतासे नष्ट हो जायगी और आपको इतनी मीठी नींद लेनेका अवसर मिलेगा कि देखकर आप आश्चर्य करेंगे। परन्तु रातको ऐसे विचार मनमें उत्पन्न कब हो सकते हैं? जब जीवनके नियम पालन किये जायं। जिस समय विश्राम करना है उस समय विश्रामके लिये लेट जायं और जिस समय जीवन-संग्राममें युद्ध करना है उस समय युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हों! अनुभव कर लेनेका अभ्यास करनेसे ये बातें उतनी कठिन नहीं मालूम होतीं।

* * * *

प्रत्येक मनुष्यमें ज्ञान, सुख, कर्म, दुःख, आलस्य और अज्ञानके बीज रहते हैं। सृष्टिके मूलमें भी इन चीजोंका अस्तित्व है। इनके तीन विभाग किये गये हैं—(१) सत्व, (२) रज और (३) तम। सत्व ज्ञान और सुखका प्रकाश है, रज कर्म और दुःखका मूल है; तम आलस्य और अज्ञानका कारण है। जब ये तीनों गुण समपरिमाणसे रहते हैं तब वह शून्यावस्था कही जाती है, क्योंकि ज्ञान+अज्ञान=०, सुख+दुःख=०, कर्म+आलस्य=०। इसलिये सृष्टिकार्यके अर्थ इस समतामें विषमता उत्पन्न होनेकी आवश्यकता होती है। यह विषमता ब्रह्मसत्तासे उत्पन्न होकर सृष्टि और शरीरका कार्य करती है। प्रत्येक प्राणीमें इसीलिये इन तीन गुणोंमेंसे एक न एक प्रबल और

दूसरे निर्बल होते हैं। किसीमें सत्व गुण प्रधान होता है तो किसीमें रजोगुण और किसीमें तमोगुण।

तीनों गुणोंमें सत्वगुण श्रेष्ठ है, क्योंकि उसकी प्रधानतासे मनुष्यके अन्य गुण दबते हैं और सृष्टिका ज्ञान और सुख प्राप्त होता है। इसलिये सात्विक बनानेका उपदेश है। रजोगुण विलास और विहारकी इच्छासे मनुष्यको जकड़ डालता है। उसी प्रकार तमोगुण मनुष्यको आलसी और खुराफाती बनाता है।

सात्विक बननेके लिये मनुष्यको नैसर्गिक नियमोंका पालन करना पड़ता है। प्रत्येक कार्यमें—भोजन, शयन, विहारादिमें नियमित होना पड़ता है। ब्रह्मचर्यकी बड़ी सावधानीसे रक्षा करनी पड़ती है। जो लोग सात्विक होना चाहते हैं उन्हें शरीर, मन और बुद्धिसे पूरा पूरा काम लेकर देशसेवा अथवा भूतसेवामें योग देना चाहिये।

सत्वगुणप्रधान मनुष्यके इहपरलोक दोनों बनते हैं। रजोगुणप्रधान व्यक्ति सुखी नहीं होता क्योंकि उसे ज्ञानका आस्वाद नहीं। तमोगुणी मनुष्य इस जन्ममें अपना चरित्र न सुधारे तो वह पशुयोनिमें फिर जन्म लेता है।

जिस मनुष्यको इन तीनों गुणोंकी उत्पत्तिका यथार्थ ज्ञान हो जाता है वह प्रकृतिकी दासतासे स्वतन्त्र हो जाता है। उसे चिरशान्ति प्राप्त होती है। वह गुणातीत हो ब्रह्मस्वरूप होता है।

प्रत्येक मनुष्यका अन्तिम लक्ष्य इन प्रकृतिके बन्धनोंको तोड़कर ब्रह्मस्वरूप होना है।

* * *

प्रकृतिके गुणोंसे स्वतन्त्र होनेके लिये असंग अर्थात् वैराग्य साधन करना पड़ता है। अभ्याससे मनुष्य निःसंग हो सकता है। विषयभोगसे मन हटाकर जो मनुष्य अपने तन, मन और बुद्धिके सारे परिश्रम देश अथवा विश्वके हितसाधनमें लगा देता है और भक्तिके साथ अपने समयके एक एक पलको अमूल्य समझकर प्रामाणिक ग्रन्थोंका पठन, श्रवण और मनन करता हुआ ज्ञानको काममें लाता है वही निःसंग हो तीनों गुणोंकी दासत्वश्रृंखला तोड़ डालनेमें कठिनाई नहीं देखता। वह आत्मज्योतिके प्रकाशसे उस परमपदको देख लेता है जो यहांसे इतनी दूर है कि इस विश्वप्रासादको प्रकाशमान् करनेके लिये उत्पन्न हुए अगणित तेजोमय दीपकोंका भी प्रकाश वहां-तक नहीं पहुंचने पाता। एक आत्मज्योतिमें ही इतनी शक्ति है कि उसका प्रकाश विश्वके ओरसे छोरतक फैल जाता है। यह परमपद सत्य और न्यायकी अखंड सत्ता है।

प्रकृतिके संयोगसे आत्माको जीवदशा प्राप्त होती है। जीवदशा प्राप्त होनेपर जीवात्माका ज्ञान भी संकुचित होता है, क्योंकि वह सृष्टिकार्यके लिये अपने योग्य एक भूमण्डल अथवा शरीर तैयार करता है। इसी शरीरको वह अपना शरीर समझता है। शरीरकी यदि परवा न करे और अपने रूपका ध्यान करे तो वह सारे भूमण्डलको ही अपना शरीर समझने लग जायगा। परन्तु ऐसा होना इतना आसान नहीं है, सत्वादि गुणों-

से स्वतन्त्र होनेके पहले उन गुणोंसे पूरा पूरा काम लेना उसका कार्य है। एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जीव इसीलिये जाता है कि यह अपनी शक्तिका एक बारमें पूरा उपयोग नहीं कर सका तो दूसरी बार कर लेगा। दूसरा जन्म लेनेके पहले पूर्वजन्मसे वह अपने साथ कुछ संस्कार ले जाता है जिनके अनुकूल ही दूसरे जन्मकी उसकी देह, मन और बुद्धि तैयार होती है। यह कार्य उसी प्रकारसे होता है जैसे वायु फूलोंसे सुगन्ध बहा ले जाती है। जीव यह सब अपनी उन्नतिके लिये करता है। परन्तु सबकी समान अवस्था नहीं होती। कोई जीव अपने जीवनमें तमोगुणका दास हो तामस संस्कार लेकर पशुयोनिमें जन्म ग्रहण करता है; कोई भोग, विलासादिको ही पुरुषार्थ मान राजस संस्कार लेकर अपने योग्य स्थान ढूंढ लेता है और कोई सात्विक संस्कारोंके साथ योगियोंके यहां उत्पन्न होकर अपनी जीवनयात्रा सफल करता है। इन बातोंपर जीवका पूरा अधिकार है। जो जैसा चाहेगा वैसा ही पावेगा।

सब लोग जीवकी इस जीवदशाका रहस्य नहीं जानते क्योंकि कभी सपनेमें भी वे अपने जीवनको अमूल्य नहीं समझते। उन्हें अपनी पहचान नहीं होती। परन्तु योगियोंको यह रहस्य मालूम हो जाता है; क्योंकि वे केवल शास्त्रोंकी चर्चा नहीं करते किन्तु अपने जीवनको वैसा बना देते हैं। उन्हें सर्वत्र परमात्मा दिखायी देता है। सूर्य, चन्द्र और अग्निके प्रकाशको वे प्रत्यक्ष परमात्माका प्रकाश जानते हैं। इनके लिये

चन्द्ररूपसे वनस्पतियोंपर सुधा बरसानेवाला और प्रत्येक देहमें जठराग्निके रूपसे अन्नका पाचन करनेवाला वही परमात्मा है। उनपर जरा जरासी बातोंका प्रभाव नहीं पड़ने पाता। उनपर संकुचित संसारके संस्कार नहीं जमने पाते और वे सर्वज्ञ और सर्वमय सर्वात्माकी ही उपासनामें लगे रहते हैं। मोक्ष नाम उन्हींके जीवनका है।

* * *

मोक्षके अधिकारी सात्विक लोग अथवा देव ही होते हैं। इसलिये ऐसे पुरुषोंके लक्षणोंकी तालिका दी जाती है—दान, दम, यश, स्वाध्याय तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, प्रियभाषण, अक्रोध, अनासक्ति,. शान्ति, दोष-दृष्टिका अभाव, भूतदया, प्रेम, लोलुपताका अभाव, आचारविचारमें मृदुता, मधुरता, जनमन-लज्जा, स्थिरता, तेजस्विता, सहिष्णुता, अन्तर्बाह्य पवित्रता, द्वेषाभाव, अहंकारशून्यता। इनमें एक भी लक्षण ऐसा नहीं है जो विना ब्रह्मचर्यके सधे। इसलिये सात्विक पुरुषोंका प्रधान लक्षण ब्रह्मचर्य है।

असुरोंके स्वभाव, आचार और विचार सात्विक वृत्तिके विपरीत होते हैं। इन्हें ज्ञान अथवा सुखसमृद्धि नहीं प्राप्त होती। इन्हें विश्व और विश्वात्माका पता नहीं, इसलिये क्या कर्त्तव्य है और क्या करनेसे पाप होता है इसका विचार भी उनकी मोहान्धबुद्धिमें नहीं आता। शरीर, मन और बुद्धिको ये पवित्र और स्वच्छ रखना नहीं जानते। इन्हें शिष्टाचार नहीं मालूम।

झूठ बोलना तो इनके घरकी खेती है। और तो क्या, ईश्वरतकको ये नहीं मानते और कहते हैं कि स्त्रीपुरुषके संयोगसे सृष्टि उत्पन्न होती है—उसमें परमेश्वरका क्या लगता है ?—"परमेश्वर कोई चीज ही नहीं है।"

महानास्तिक चार्वाकका कथन है—"हमारा शरीर ही हमारा आत्मा है। जीव शरीरकी एक रासायनिक उपाधिमात्र है। मृत्यु ही मोक्ष है। वेदोक्त कर्म भंड और निशाचरोंने लोगोंको फंसानेके लिये कल्पित किये हैं; क्योंकि उनके फल दृष्टिगोचर नहीं। आंखोंसे जो दिखायी दे अथवा इंद्रियगोचर हो वही सत्य है। प्रत्यक्ष प्रमाण ही केवल प्रमाण है। तात्पर्य, देह ही आत्मा और देहोपभोग—विषयभोग ही परमपुरुषार्थ है।" चार्वाकका एक ही वेद है-'अनुभव'। (भारतवर्षमें, समाजमें महाअनर्थ उत्पन्न करनेवालोंको भी विचारस्वातंत्र्य और उपदेश स्वातंत्र्य था!)

उन्होंने दुनियाको दुनियादारीके लिये समझ लिया है। इसमें समाजकी बड़ी हानि होती है। ये अपना स्वार्थ बनाने और दूसरोंका माल हड़पनेमें बड़े उस्ताद हैं। इनका सारा पुरुषार्थ 'काम' है; परन्तु काम, क्रोध और लोभ नरकका रास्ता दिखानेवाले मार्गदर्शक हैं। इसलिये जिन्हें नरकसे बचना है उनका कर्तव्य है कि कामक्रोधादिसे बचें और परमात्मा, जीवात्मा और संसारसंबंधी जो सत्य सिद्धान्त हैं उनके अनुकूल अपने जीवनको बना कर्तव्य पालन करें।

* * *

जिसका जैसा स्वभाव हो वैसी ही उसकी श्रद्धा होती है। सात्विक मनुष्योंकी श्रद्धा सात्विक महापुरुषोंपर और ब्रह्मचर्यादि उपायोंपर ही होती है। उसी प्रकार राजसी लोग यक्ष किन्नरोंको मानते हैं और परापहारादि मार्गको ही उचित मार्ग समझते हैं। वैसे ही तामसी लोग भूतप्रेतादिमें विश्वास रखकर जादू टोना जैसे उपायोंपर ही श्रद्धा रखते हैं। मनुष्यकी जैसी इच्छा होती है वैसा उसका स्वभाव बनता है और जैसा जिसका स्वभाव होता है वैसी ही उसकी श्रद्धा होती है। इसलिये श्रद्धाके तीन भेद किये गये हैं:—सात्विक, राजसी और तामसी।

परन्तु एक बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि इन बातोंपर मनुष्यका पूरा अधिकार है। मनुष्यकी इच्छापर ही अच्छी अथवा बुरी श्रद्धा निर्भर करती है। इसलिये जिन लोगोंको सात्विक श्रद्धासे इहपरलोकमें सुख लाभ करनेकी इच्छा हो वे सात्विक नियमोंका पालन करें। ये नियम खाने पीने आदि सभी नित्य और आवश्यक कार्योंके संबंधमें हैं।

* * *

आहार या भोजनका मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। तीते, खट्टे और चरपरे पदार्थ खानेवाले लोग प्रायः रोगी, तेजमिजाज और दुर्बल होते हैं। इसलिये मनुष्यको ऐसा भोजन करना चाहिये जिससे मन प्रसन्न रहे, बुद्धि तीव्र हो और शरीरका बल

वह। चाय काफी अथवा मदिरा सात्विक खानपान नहीं है। इसी प्रकार तरह तरहकी मिठाइयां खाना भी शरीर और मन दोनोंके लिये हानिकर है। सात्विक अन्न नैसर्गिक होता है। नैसर्गिक अन्न अथवा भोजनका उन वस्तुओंसे मतलब है जो मनुष्यकी बनायी न हों—परमात्मा द्वारा ही वसुधामें उत्पन्न हुई हों। अर्थात् मांस, मदिरा, मिठाई, आचार आदि पदार्थ नैसर्गिक नहीं हैं। गेहूं, चावल, बाजरा, चना, तरकारियां और फल, मेवे आदि नैसर्गिक पदार्थ हैं। इन्हींका आहार सर्वोत्तम है। इन सब वस्तुओंको नैसर्गिक अवस्थामें ही खाना सर्वोत्तम है पर परिस्थिति और अपनी शक्ति देखकर उसके अनुकूल ही क्रमसे उसका अभ्यास करना चाहिये। ऐसे आहार करनेवाले जंगली मनुष्यों और जानवरोंको देखिये। वे कैसे निरोग और बलिष्ठ होते हैं। परन्तु इस समय ऋषिमुनियोंकी सन्तान—कन्दमूल भक्षण करनेवालोंकी सन्तति—निसर्गसे बहुत दूर चली गयी है। इसलिये एकाएक सब प्रकार अवस्थाका पलट जाना असंभव और हानिकर भी है। इसे केवल आदर्शस्वरूप सामने रखकर लोगोंको यथासंभव और यथाभ्यास नैसर्गिक नियमोंका साधन करना चाहिये।

* * *

यह नाम है स्वार्थत्यागका। अपनी प्रतिष्ठाके लिये अथवा लाचार होकर जो स्वार्थत्याग किया जाता है वह सात्विक

स्वार्थत्याग नहीं है। सात्विक यज्ञ उस स्वार्थत्यागका नाम है जो दूसरोंके हितार्थ निःस्वार्थ बुद्धिसे ही किया जाय। ऐसे कर्म करनेका अभ्यास डालना चाहिये। पहले अपने संबंधियोंके साथ ही ऐसा व्यवहार करनेसे फिर और लोगोंपर भी उपकार करनेकी बुद्धि होती है और क्रमशः यह अभ्यास बहुत बढ़ जाता है। इस स्वार्थत्यागसे मनुष्यकी सात्विक श्रद्धा बनती है और ऐसी श्रद्धा बननेसे मृत्युसमयमें सदिच्छा उत्पन्न होती है और अगले जन्ममें उन्नतिका मार्ग सुगम होता है।

* * *

तप तीन प्रकारके हैं; कायिक, वाचिक और मानसिक। ब्रह्मचर्यसे तथा नित्यप्रति जल वायु तथा सूर्यस्नानसे शरीरको पवित्र रखकर उसका उपयोग दुष्टोंसे निर्बलोंको बचानेमें और शिष्टोंके पालनमें करना सात्विक शारीर तप है। मितभाषण करना, कोई ऐसी बात न कहना जिससे किसीका दिल दुखे, सात्विक प्रकारका वाचिक तप है। और मनमें सदा शुद्ध विचारको स्थान देना, अभिमान और इन्द्रियवशताका हटाना और प्रसन्न रहना सात्विक प्रकारका मानसिक तप है। मनुष्य यदि इन तपसे अपने शरीर, मन और बुद्धिकी उन्नति करे तो बिना बात किये ही वह दूसरोंपर अपना प्रभाव डाल सकता है। स्वयं प्रसन्न रहनेसे बढ़कर दूसरोंको प्रसन्न करनेका और कोई उपाय नहीं है। दान भी सात्विक, राजस और तामस होता है। सात्विक दान वह धन अथवा विद्यादान है जो देश, काल और पात्रका

विचार करके दिया जाय। जिसके पेटमें भूखकी ज्वाला धधक रही है उसके मुंहका कौर छीन लेना और लखपतियोंकी दावत करना अथवा परान्नपुष्ट मनुष्योंको भोजन देना महाघृणित दान है। देश, काल और पात्रका विचार कर दान देनेकी रीति भारत-वर्षसे मानों उठ ही गयी है। अतिथिसत्कार तो यहां नहीं होता, पर नीचवृत्ति अहंमन्य धुराधारियोंको संतुष्ट करनेमें कोई बात उठा नहीं रखी जाती। दान दिया जाता है उन लोगों-को जो कोई काम नहीं करते; दिनरात दूसरोंकी निन्दा और शिश्नोदरसेवा ही किया करते हैं। जो लोग गरमीकी झुलाती धूपमें काम करते और भारतवर्षके अमीर और गरीबके लिये, युरोप और अमेरिकाके लिये भी अन्न पैदा करनेमें अपनी देहको घिस डालते हैं उनकी कोई सुध भी नहीं लेता! दीनोंकी सहायता करना ही सच्चा दान है।

* * * *

संसारमें जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सब कोई न कोई काम करते हैं। निकम्मा पदार्थ यहां नहीं रह सकता। मनुष्य भी कर्म करनेके लिये उत्पन्न होता है। जो मनुष्य निकम्मा बैठा रहेगा वह सड़ जायगा। परन्तु कर्म भी समझकर करना चाहिये। कर्म करना स्वभावका धर्म है परन्तु कर्मकी दिशा न मालूम होनेसे लोग ऐसे कर्म करते हैं जिनसे उनका और उनके समाजका रूपरंग बिगड़ जाता है इसलिये पहले यह समझ लेना चाहिये कि कौन कर्म करना चाहिये।

मनुष्य कहांसे आता है और कहां जाता है ? इस संसारमें उसका क्या काम है ?

अद्वैतसिद्धान्त है कि प्रत्येक जीव परमात्मा ही है परंतु वह अपना परमात्मरूप तबतक नहीं देख सकता जबतक वह परमात्माकी अनन्य भक्ति नहीं करता अथवा परमात्माके अनुकरणसे ज्ञानमय नहीं हो जाता। परंतु यदि यह सत्य है कि जीव परमात्मा है तो उसका कर्म भी स्पष्ट है। परमात्माका क्या कर्म है ? कौन नहीं जानता कि परमात्मा ही इस सृष्टिको धारण करता है—वही इसका आधार है; वही अन्यायको पैरों तले कुचलकर न्यायका साम्राज्य फैलाता है। यही कार्य जीवका है। यही धर्म है।

इसी धर्मके पालनसे—इसी ईश्वरी कर्मके अनुकरणसे जीव जीवदशाके महासागरको पारकर स्वतंत्र हो जाता है। इस कर्मके दो भेद हैं, एक सामान्य और दूसरा विशेष अथवा श्रुतिस्मृतिद्वारा प्रतिपादित नित्य करनेके कर्म और संसारकी विशेष परिस्थितिके अनुकूल लोकोपकारी कर्म। इनमेंसे पहले प्रकारके कर्म तो संन्यासीतक नहीं छोड़ सकते फिर सामान्य मनुष्योंकी बात ही क्या है ? कारण यदि नित्यके कर्म छोड़ दिये जायं तो धर्मका नामनिशान भी समाजसे मिट जायगा। ये कर्म केवल कर्म समझकर ही किये जाते हैं—इनसे फलप्राप्ति नहीं। दूसरे प्रकारके कर्म समाजका दुःख दूर करनेके लिये विशेष परिस्थितिमें विशेष प्रकारसे किये जाते हैं। जो लोग निःस्वार्थ

भावसे इस प्रकार समाजसेवा करते हैं उनके भी कर्मबंधन संन्यासीके समान टूट जाते हैं और वे त्यागी कहाते हैं। कर्म जो दुःखमूलक कहा गया है वह इनके दुःखका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ये फलकी आशासे काम नहीं करते। कर्मफल उन्हींको भोगने पड़ते हैं जो त्याग करना नहीं जानते। ऐसे लोग अपने कर्मोंके अनुसार इष्ट, अनिष्ट और मिश्र फल भोगते हैं।

जीवोंके कर्म भिन्न भिन्न प्रकारके क्यों हो जाते हैं? यह समझनेके लिये कर्मका कारण जानना चाहिये। मनुष्य अपने शरीर, मन अथवा बुद्धिसे जितने काम करता है उन कामोंके होनेके लिये इतनी वस्तुएं आवश्यक हैं—(१) शरीर, (२) जीव, (३) बारह इंद्रियां (५ कर्मेंद्रिय, ५ ज्ञानेंद्रिय, मन और बुद्धि); (४) प्राणापानादि वायुओंकी चेष्टा, और(६) दैव। सबके शरीर, वासनाएं, बुद्धि, इंद्रियां, वायुमंडल और दैव समान नहीं हैं, इसलिये सबके कर्म भी समान नहीं हैं।

* * *

दैव क्या है? ब्रह्मसत्तासे संसारमें जो उलटफेर होते हैं, जैसे भूडोल, ज्वालामुखीका उमड़ना, समुद्रमें जहाजका डूबना अथवा चट्टानसे टकराना, पृथ्वीका अंश जलमय हो जाना तथा जलका टापू बन जाना आदि तथा पृथ्वी और अन्य ग्रहोंकी गतिके कारण जो उलटफेर संसारमें हो रहे हैं उन्हींका नाम है दैव। इस दैवका हमारे कर्मसे बहुत निकट संबंध है। जिस मनुष्यको इन उलटफेरोंका ज्ञान हो जाता है वह विजयी और

जिसे नहीं होता वह निराश होता है। कभी कभी ऐसा भी अवसर आता है जब भूडोलके कारण जमीनकी दरारमें शहरके शहर मिल जाते हैं परन्तु उनमें एकाध बालक साफ बच जाता है। यह बालकके कर्मका फल है। इसलिये दैव कोई ऐसी वस्तु नहीं जो अन्यायसे जीवकी उन्नतिमें बाधा डाले। इस दैवको चाहे जो मनुष्य सत्कर्म द्वारा अपने अनुकूल बना ले सकता है। जो लोग दैवपर भरोसा रखकर उसके अधीन हो जाते हैं वे कभी उन्नति नहीं कर सकते। मनुष्यको जानना चाहिये कि वही दैवका स्वामी है यदि वह उसे ठीक ठीक समझे। प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। परन्तु उसे अपनी अवस्था, योग्यता और अधिकारको जानकर उसके अनुकूल कर्म करना चाहिये। मनुष्यके कई भेद हैं, उनके भिन्न भिन्न अधिकार हैं।

मनुष्यके तीन भेद हैं—सात्विक, राजसी और तामसी। तीन प्रकारके मनुष्य तीन प्रकारके कार्य करते हैं। इन कार्योंके करने-वाली बुद्धि और धीरता भी तीन प्रकारकी होती है और फल भी तीन प्रकारके होते हैं। जो मनुष्य सात्विक बुद्धिसे सात्विक धीरताके साथ आत्मसंयमके कष्टोंको सहता हुआ परमात्माकी उपासना करता है और लोकसेवाको धर्म समझता है वह उत्तम या सात्विक सुख पाता है। सात्विक सुख आरंभमें बड़ा कड़ुआ मालूम होता है पर जैसे कड़ुई दवा रोगीके रोगको भगाकर उसे खड़ा कर देती है वैसे ही सात्विक बलको लुभानेवाले दुष्ट लोभ

मोहादि शत्रुओंसे युद्ध करनेवाला कर्मवीर जयी होकर अन्तमें सुखी होता है। राजसी वृत्तिके लोग स्वार्थमें चूर रहते हैं और अपने ही विलासविहारके अर्कमें धीरे धीरे घुल जाते हैं। तामसी वृत्तिवाले सदा ही दुःखी रहते हैं। बलीके सामने गर्दन झुकाना, निर्बलोंकी छातीपर सवार होना, बिना परिश्रम किये सुखकी इच्छा करना, रातदिन नशेमें चूर रहना—ये सब तामसी वृत्तिके लक्षण हैं और कहते दुःख होता है कि हम भारतवासियोंका यही हाल है! जिस देशमें स्वार्थत्यागी सात्विक ब्राह्मणोंकी एक जाति बन चुकी थी और जिस देशकी रक्षाके लिये स्वाभिमानी कर्मवीरोंने वंशपरंपरा देशसेवा करनेका व्रत धारण कर लिया था उस देशमें अब तमोगुणने सत्व और रजको दबाकर अपना प्रभुत्व जमाया है! इस समय आवश्यकता है कि इस अन्धकार-को दूर करनेके लिये स्वार्थत्यागी युवा ब्राह्मण और क्षत्रिय आगे बढ़ें और गीताधर्मके प्रकाशसे उस अन्धकारको दूर करें।

* * *

'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।' सब वर्णोंका गुरु अथवा सब वर्णों-में श्रेष्ठ ब्राह्मण ही क्यों माना गया? इसका केवल यही कारण है कि ब्राह्मणके गुण और कर्म ही ऐसे हैं। ब्राह्मणके घर जन्म लेनेसे ही वह कुमार ब्राह्मण कहलाता है; परन्तु ठीक वैसे ही जैसे राजाके घर जन्म लेनेसे राजकुमारकी पदवी मिलती है। परंतु अब वह समय आ गया है जब अपना कार्य न करनेवाला

विलासी राजा तख्तसे उतार दिया जाता है और वह राजा राजा नहीं रहता। उसी प्रकार ब्राह्मणकुमार भी यदि अपना कर्त्तव्य-पालन न करे तो वह वर्णगुरुकी गद्दीसे उठा दिया जायगा और ऐसा ही होना ठीक है। इसलिये जिन ब्राह्मणकुमारोंमें ऋषि-मुनियोंके वीर्यकी तेजस्विता हो वे संभल जायं और शरीर, मन, तथा बुद्धिको पवित्र रखकर तीनों वर्णोंके हितार्थ आत्मत्याग करनेके लिये आगे बढ़ें। सारे शास्त्रोंकी पोथियोंको उलट पलट-कर देख लेनेसे अथवा मस्तकको भस्म या तिलक द्वारा सिंगारनेसे ही ब्राह्मणत्व नहीं आ जाता। ब्राह्मण वही है जो अध्ययन, अध्यापन और शुद्ध आचरणसे लोकसेवा करे। उसी प्रकार संसारकी सात्विक उन्नतिमें बाधा डालनेवालोंको अपने प्रतापसे दबा देना, नीच निशाचरोंको अपने तेजसे भस्म करना, संग्राम करते समय शत्रुके दांत खट्टे कर छोड़ना, दीनोंपर दया करना, बलीनिर्बलीका न्यायपूर्वक शासन करनेकी सामर्थ्य रखना, आदि क्षात्रगुण जिस नरवीरमें हो वही सच्चे पुरुषोंकी दृष्टिमें क्षत्रिय समझा जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्षत्रियके कार्य करनेके लिये ही क्षात्रिय संस्कारोंसे दृढ़ होकर जीवात्मा क्षत्रियके घर जन्म लेता है। परंतु जब वह अपना कार्य नहीं करता तब उसमें क्षत्रियत्व भी नहीं रहता। जैसे वैद्यके बेटेको कोई वैद्य नहीं कहता वैसे ही ऐसे क्षत्रियको क्षत्रिय कहना शब्दोंका दुरुपयोग है। सब वर्णोंका यही हाल है। जो वैश्य देशकालका विचार छोड़ देता है-ब्राह्मण, क्षत्रियके पवित्र आदर्शको नहीं मानता और

केवल शिश्नोदरपरायण हो धर्मविरुद्ध व्यवसाय करता है उसका दर्जा वहुत नीचा है। वैसे ही वह शूद्र जो हिन्दू धर्ममें प्रवेश कर हिन्दूधर्मका आदर्श न जान, अपनी शक्ति तथा अधिकारको न पहचान सेवाधर्मका दुरुपयोग करता है उसका पद भी हिन्दू चातुर्वर्ण्यके वाहर है। जब चारों वर्ण अपना अपना काम ठीक तरहसे करते हैं तब चारोंका सम्मान बराबर है, परंतु जो अपना कार्य नहीं करता वह मनुष्यत्वसे ही गिर जाता है। न ब्राह्मण क्षत्रियसे श्रेष्ठ है और न वैश्य शूद्रसे। जो शूद्र पवित्र भावसे अपना कर्त्तव्य करता है वह निकम्मे जन्मसिद्ध ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है। श्रेष्ठता कर्तव्य-संपादनपर निर्भर करती है—जन्मपर नहीं। पर हां, जहां जन्म कर्मसे चरितार्थ हो वहां सिद्धि बहुत जल्द प्राप्त होती है। यही

ब्रह्मप्राप्तिका उपाय

है। यही ईश्वरकी आराधना है। कर्तव्य-पालनकी सामर्थ्य नीरोगी मन और नीरोगी शरीरमें ही हो सकती है। जो मनुष्य कर्तव्यपालन नहीं करता, निश्चय जानिये कि वह किसी भयंकर रोगसे पीड़ित है। आत्मिक बलसे ब्रह्मचर्यकी रक्षा कर जो जीव बुद्धिको स्वच्छ रखता है वह भोगी जीवोंको न दिखायी देनेवाली इसी सृष्टिसे सुखसामग्री इकट्ठी करता है और प्रकृतिके नियमोंको जानता हुआ नियत समयपर नियत कार्य करता है। मन बुद्धि और सारी सृष्टिसे लाभ उठाना है। सृष्टि उसकी सेवामें तत्पर रहती है। वह अद्भुत शक्तिसम्पन्न होता और संसारकी

उन्नतिके लिये विचित्र लीला दिखाकर अन्तर्धान हो जाता है ।

* * *

परमात्मा और आत्मामें यदि कोई भेद नहीं तो संसारमें सत्यका साम्राज्य स्थिर रखनेकी यथाशक्ति चेष्टा करना मनुष्य-का धर्म है। संसारकी उन्नतिका यही आदर्श है कि संसारमें सत्यकी सत्ता और असत्यका नाश हो, न्यायका नेतृत्व और अन्यायकी अधोगति हो, परिश्रमका पारितोषिक और विलासि-ताका विनाश हो। प्रत्येक व्यक्तिकी चरम उन्नति भी यही है कि वह सत्यस्वरूप हो। इस आदर्शको गीताने सामने रखा है और इस आदर्शतक धीरे धीरे पहुंच जानेका मार्ग भी गीताने दिखा दिया है।

ॐ तत्सत् ब्रह्मार्पणमस्तु ।

——•०•——

छपकर तैयार है !

हिन्दी-पुस्तक-मालाका पहला पुष्प

स्वाधीनताके सिद्धान्त

ले०-आयर्लैंडके प्रसिद्ध आत्मत्यागी वीर

टेरेंस मेक्स्विनी

इस पुस्तकमें स्वाधीनताके सच्चे सिद्धान्तोंका वर्णन है। पुस्तककी प्रशंसा भारतके प्रायः सभी समाचारपत्रोंने की है। कुछ सम्मतियां नीचे उद्धृत की जाती हैं।

'माधुरी' लिखती है— "पुस्तक प्रत्येक राजनीति-प्रेमी हिन्दी-भाषा-भाषीके अध्ययन और मननको वस्तु है। राष्ट्रीय आन्दोलनमें काम करनेवालोंके लिये तो ऐसी पुस्तकें पढ़ना, मनन करना तथा उनके आदेशोंके अनुसार चलना परम आवश्यक और हितकर है।"

'नवीन राजस्थान' लिखता है—"पुस्तक पराधीनताजन्य कर्तव्यविमूढ़तामें मार्ग-दर्शक और नैराश्यान्धकारमें प्रकाशकका काम देनेवाली है।...पुस्तक प्रत्येक भारतीयके पढ़ने लायक है।"

'तरुण भारत' लिखता है—"यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि भारतवासियोंके लिये कितनी उपयोगी है। प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी तथा स्वतंत्रता प्रेमीको इसे पढ़कर लाभ उठाना चाहिये।"

"२०० पृष्ठसे अधिकको सचित्र पुस्तकका मूल्यकेवल १)

हिन्दी-पुस्तक-मालाका दूसरा पुष्प

कर्मयोग

ले० बंगालके प्रसिद्ध कर्मयोगी

श्रीयुक्त अश्विनीकुमार दत्त

इस ग्रंथमें श्री दत्त महोदयने कर्मयोगका वर्णन बड़ी रोचक भाषामें किया है। इसमें निष्काम कर्मकी महिमा और सच्चे कर्मयोगीके लक्षण बड़े विस्तारके साथ बतलाये गये हैं। इस ग्रंथकी प्रस्तावना भी "सरलगीता"के लेखक पंडित लक्ष्मण-नारायण गर्दने लिखी है जो अपने सात्विक विचारोंके लिये प्रसिद्ध हैं। 'भारतमित्र' इसके सम्बन्धमें लिखता है—

"कर्मयोगका सुन्दर विवेचन यही है। मनोरञ्जक दृष्टांत देकर बड़े ही अच्छे ढङ्गसे कर्मयोगका महत्व समझाया है। इससे 'कर्मयोगके' संसारमें प्रवेश हो जाता है। बाबू अश्विनी-कुमार दत्तका नाम भारतविख्यात है। उनकी यह पुस्तक भी बंगालमें सर्वत्र बड़ी श्रद्धाके साथ पढ़ी जाती है। है भी इसी योग्य।"

करीब १५० पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य केवल ॥)

हिन्दी-पुस्तक-मालाका चौथा पुष्प

मधुर मिलन

ले० द्वादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापति और

हास्य रसके प्रसिद्ध लेखक

पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

यह एक मौलिक सामाजिक नाटक है। इसमें चतुर चित्रकार चतुर्वेदीजीने समाजका चित्र सुन्दर रूपसे चित्रित किया है। वर्तमान समाजमें शायद ही ऐसी कोई कुरीति होगी जो लेखककी लेखनीसे बच गयी हो। शिक्षाके साथ साथ पाठकोंका कैसा मनोरंजन होगा इसके लिये चतुर्वेदीजीका नाम ही पर्याप्त है। यह नाटक एकादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके अवसरपर सम्मेलनके प्रतिनिधियोंके मनोरंजनार्थ खेला गया था और स्वयं लेखक महोदयने रामकहूकी भूमिका ली थी। सम्मेलनके सभापति श्रीमान् बाबू भगवानदासजी इससे बहुत प्रसन्न हुए थे और उपस्थित सज्जनोंने लेखक तथा अन्य पात्रोंको पदकादि भी प्रदान किये थे। एक बार अवश्य पढ़िये।

मूल्य ॥=)

सुलभ-साहित्य-सीरीजकी पुस्तक

यंग इण्डिया

लेखक—महात्मा गान्धी

महात्माजीके पांच रंगीन व सादे चित्रोंसे विभूषित तीनों भाग छपकर तैयार हैं।

करीब २५०० पृष्ठके तीनों भागोंका मूल्य ४॥) अलग अलग भाग भी मिल सकते हैं। मूल्य क्रमसे १) १॥) २)

दूसरा और तीसरा भाग सजिल्द भी मिलता है। मूल्य क्रमसे १॥) २)

अन्य उपयोगी पुस्तकें—

प्रसिद्ध साहित्यसेवी स्वर्गीय लाला श्रीनिवासदासकृत

परीक्षा गुरु

यह एक मौलिक सामाजिक उपन्यास है जिसकी अपूर्वता देखनेसे ही प्रतीत होगी। मूल्य १)

प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि पं० माधव शुक्ल कृत पुस्तकें—

जागृत भारत—इस पुस्तकमें लेखकने राष्ट्रीय भावोंसे पूर्ण कविताओंका समावेश किया है। पुस्तक प्रत्येक देशप्रेमीके पढ़ने योग्य है। मूल्य ॥)

भारतगीतांजलि—इसकी कविताओंको जनताने

इतना पसंद किया कि यह पुस्तकका पांचवां संस्करण है। इसकी कविताएं बड़ी मनोरंजक हैं। मूल्य ।-)

महाभारत नाटक—इसमें महाभारतकी कथाको नाटकका रूप दिया गया है। पुस्तक कैसी है इसके लिये लेखकका नामही पर्याप्त है। मू० ॥≠)

सामाजिक चित्र दर्पण—इसमें सामाजिक सुधार सम्बन्धी कविताएं दी गयी हैं। सामाजिक सुधारके प्रेमियोंको अवश्य पढ़नी चाहिये। मूल्य ≠)

जातीय ज्योति—इसमें भी कुछ चुनी हुई राष्ट्रीय कविताओंका समावेश है। मूल्य -)

असहयोगपर महात्मा गांधी—इसमें असहयोगपर दिये हुए महात्मा गांधीके लेखों व व्याख्यानोंका संग्रह है। मूल्य ॥)

स्वतंत्रताका अधिकार—इसमें देशबंधुदासका अहमदाबाद कांग्रेसका भाषण और उनके लेख और व्याख्यानोंका संग्रह है। मूल्य ॥≠)

देशबन्धु चित्तरञ्जनदास—यह देशबन्धुका संक्षिप्त जीवनचरित्र है। मूल्य ।≠)

सब प्रकारकी हिन्दी पुस्तक मिलनेका पता—

हिन्दी पुस्तक भवन

१८१ हरिसन रोड, कलकत्ता।